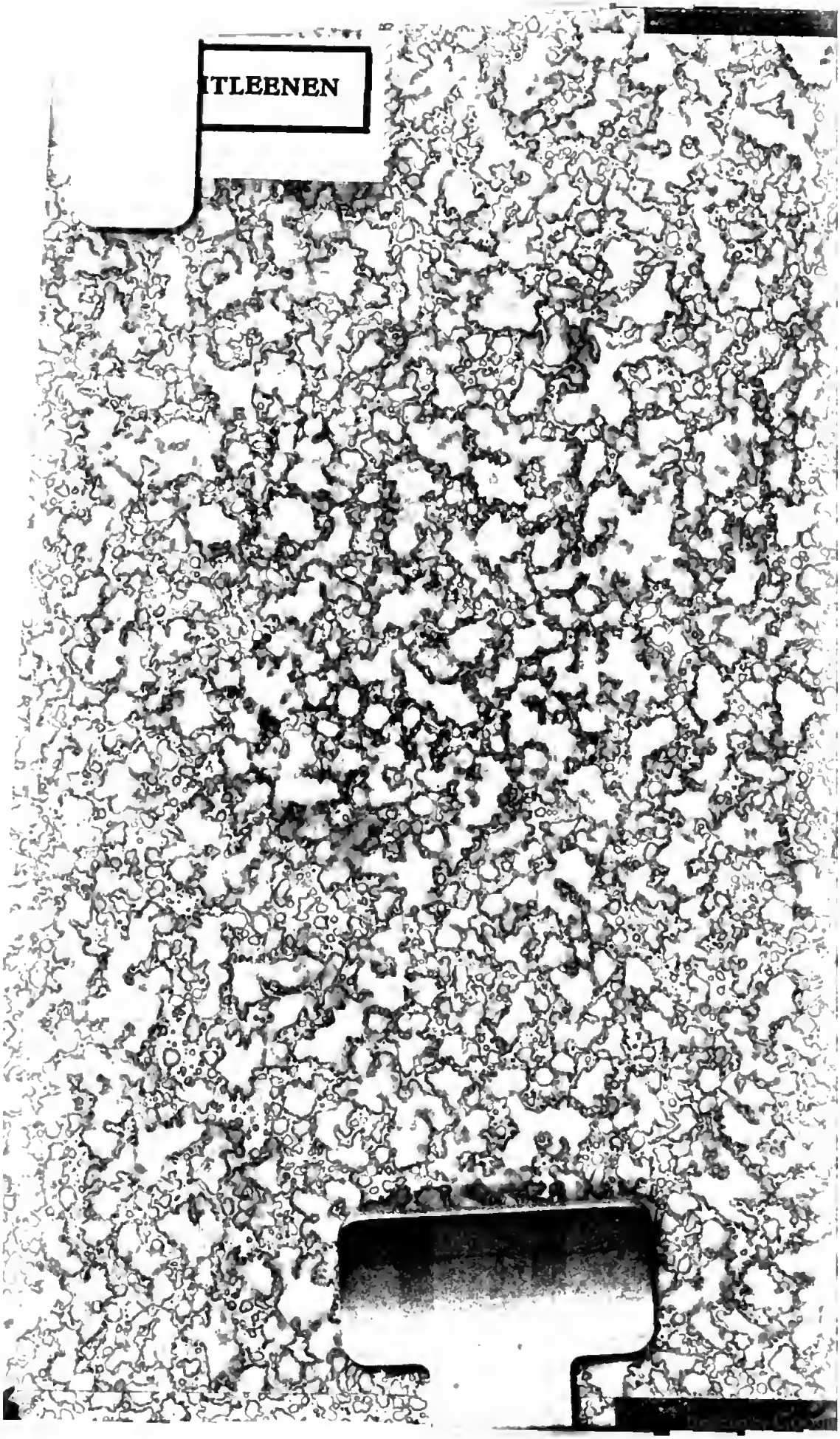
ITLEENEN

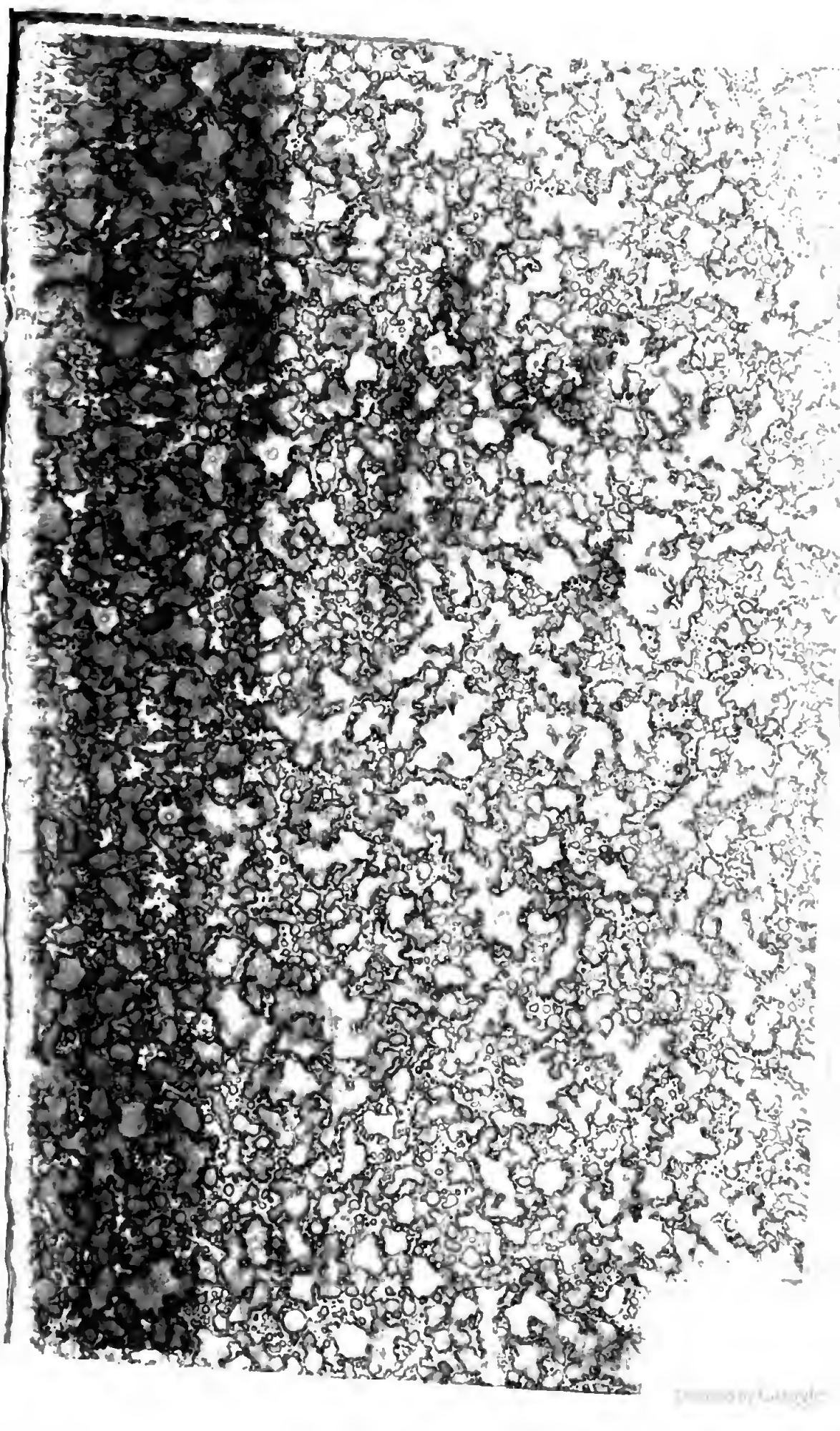

1897/2
a/200

Digitized by Google

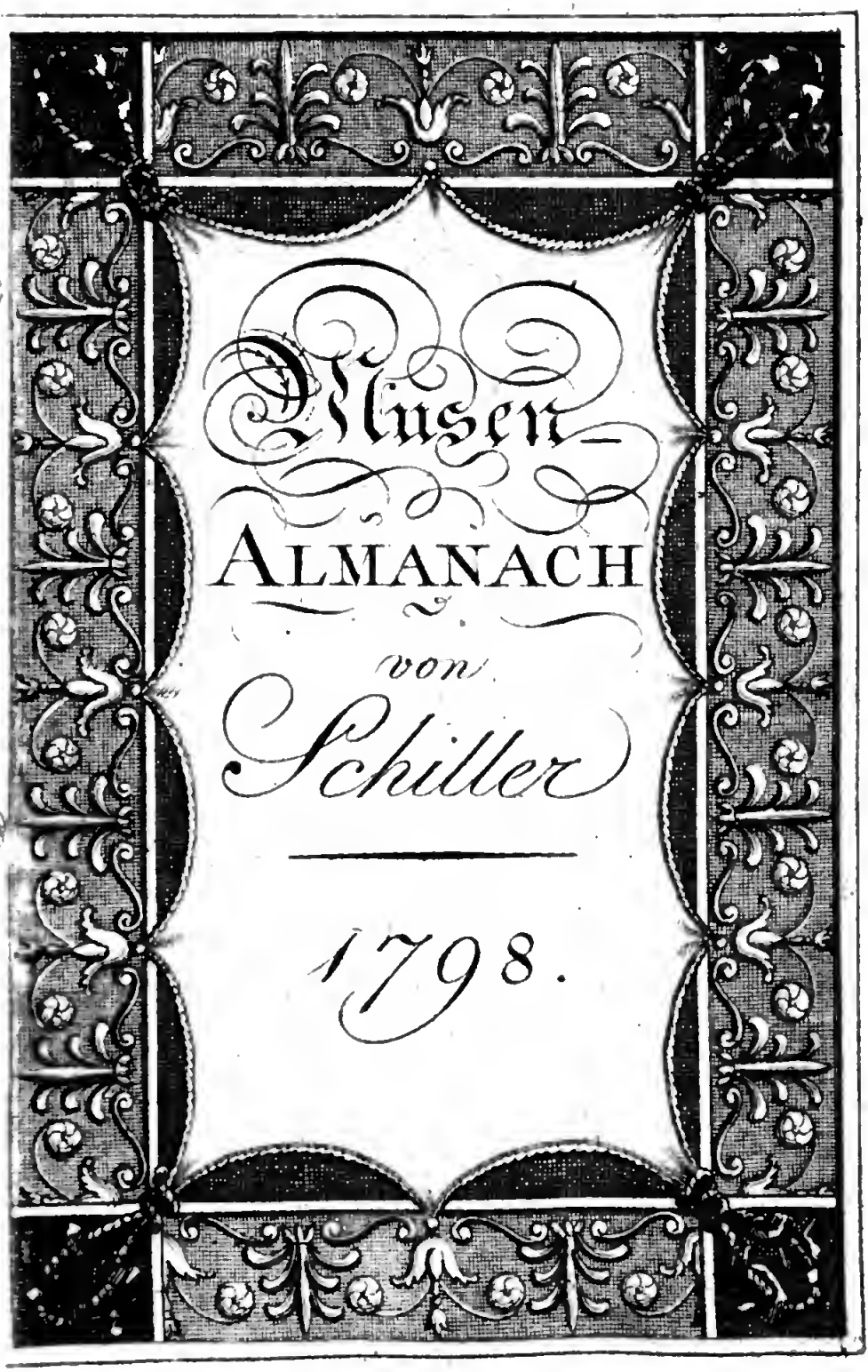
Musen-
ALMANACH
von
Schiller
1798.

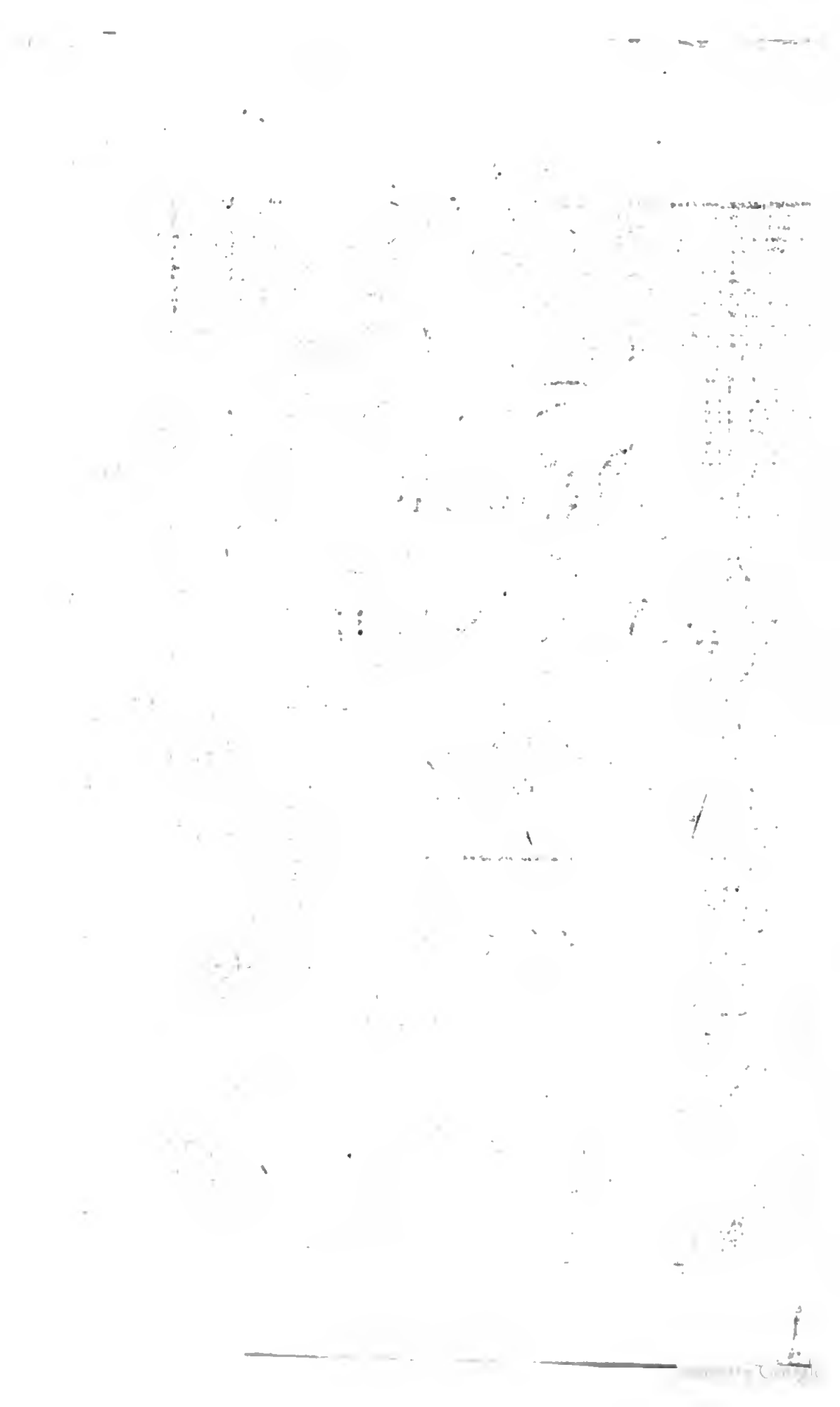

p2o 785 J1

# Muſen-Almanach

für

das Jahr 1798.

herausgegeben

von

SCHILLER.

Tübingen,

in der J. G. Cottaiſchen Buchhandlung.

# JANUAR.

| | | |
|---|---|---|
| | *1. Neujahr.* | |
| 1 | Montag | *Chriſtus* |
| 2 | Dienſtag | Abel, Seth |
| 3 | Mittwoch | Enoch |
| 4 | Donnerſt. | Loth |
| 5 | Freytag | Simeon |
| 6 | Sonnab. | *Heilige 3 Könige* |
| | *2. 1 Epiphan.* | |
| 7 | *Sonntag* | Iſidorus |
| 8 | Montag | Erhard |
| 9 | Dienſtag | Ehrenfried |
| 10 | Mittwoch | Paul. Einſ. |
| 11 | Donnerſt. | Higynius |
| 12 | Freitag | Reinhold |
| 13 | Sonnab. | Hilarius |
| | *3. 2 Epiphan.* | |
| 14 | *Sonntag* | Felix |
| 15 | Montag | Marcus |
| 16 | Dienſtag | Marcellus |
| 17 | Mittwoch | Antonius |
| 18 | Donnerſt. | Priſca |
| 19 | Freitag | Blantina |
| 20 | Sonnab. | *Fabian Sebaſtian* |
| | *4. 3 Epiphan.* | |
| 21 | *Sonntag* | Agnes |
| 22 | Montag | Vincentius |
| 23 | Dienſtag | Emerentia |
| 24 | Mittwoch | Timotheus |
| 25 | Donnerſt. | *Paul. Bekehrung* |
| 26 | Freitag | Polycarp. |
| 27 | Sonnab. | Chryſoſt. |
| | *5. 4 Epiphan.* | |
| 28 | *Sonntag* | Carl |
| 29 | Montag | Valerius |
| 30 | Dienſtag | Adelgunda |
| 31 | Mittwoch | Virgilius |

*Mondsviertel.*

Der volle Mond den 2 Jan. um 5 Uhr 21 Min. Nachm.

Das letzte Viertel d. 9 Jan. um 8 Uhr 13. Min. Vorm.

Der neue Mond den 17 dieſes um 1 Uhr 37 M. Vorm.

Das erſte Viertel den 25 Januar um 6 Uhr 11 Min. Vorm.

*Tageslänge.*

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | 8 St. | 0 | Min. |
| 10. | 8 - | 14 | - |
| 20. | 8 - | 34 | - |
| 30. | 9 - | 2 | - |

*Sonnenseintritt.* Den 19 in den Waſſermann

# FEBRUARIUS.

| | | |
|---|---|---|
| 1 | Donnerſt. | Brigitta |
| 2 | Freytag | *Mar. Reinigung* |
| 3 | Sonnab. | Blaſius |
| | *6 Septuageſima.* | |
| 4 | *Sonntag* | Veronica |
| 5 | Montag | Agatha |
| 6 | Dienſtag | Dorothea |
| 7 | Mittwoch | Reinhard |
| 8 | Donnerſt | Salomon |
| 9 | Freitag | Apollonia |
| 10 | Sonnab. | Scholaſtic. |
| | *7. Sexageſima.* | |
| 11 | *Sonntag* | Euphroſina |
| 12 | Montag | Eulalia |
| 13 | Dienſtag | Benigna |
| 14 | Mittwoch | Valentin |
| 15 | Donnerſt. | Fauſtinus |
| 16 | Freitag | Juliana |
| 17 | Sonnab. | Conſtant. |
| | *8. Eſto mihi.* | |
| 18 | *Sonntag* | Concordia |
| 19 | Montag | Suſanna |
| 20 | Dienſtag | *Faſtnacht* |
| 21 | Mittwoch | *Aſchermittwoch* |
| 22 | Donnerſtag | *Petri Stulfeuer* |
| 23 | Freitag | Severus |
| 24 | Sonnab. | *Matthias* |
| | *9. Invocavit.* | |
| 25 | *Sonntag* | Leander |
| 26 | Montag | Walpra |
| 27 | Dienſtag | Fortunat. |
| 28 | Mittwoch | *Quatember* |

*Mondsviertel.*

Der volle Mond den 1 Febr. um 4 Uhr. 15 Min. Vorm.

Das letzte Viertel den 7 F. um 8 Uhr 3 Min. Nachmitt.

Der neue Mond den 15 um 8 Uhr 32 Minut. Nachm.

Das erſte Viertel den 23 um 9 Uhr 32 Minut. Nachmitt.

*Tageslänge.*

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | 9 St. | 6 | Min. |
| 10. | 9 - | 36 | - |
| 20. | 10 - | 10 | - |
| 28. | 10 - | 42 | - |

***Sonneneintritt:*** Den 18. in die Fiſche.

# MARTIUS.

| | | |
|---|---|---|
| 1 | Donnerſt. | Albinus |
| 2 | Freitag | Simplicius |
| 3 | Sonnab. | Kunigunda |
| | *10. Reminiſcere.* | |
| 4 | *Sonntag* | Hadrianus |
| 5 | Montag | Friedrich |
| 6 | Dienſtag | Friedelinus |
| 7 | Mittwoch | Perpetua |
| 8 | Donnerſt. | Philemon |
| 9 | Freitag | Prudentia |
| 10 | Sonnab. | Alexander |
| | *11. Oculi.* | |
| 11 | *Sonntag* | Roſina |
| 12 | Montag | *Gregorius.* |
| 13 | Dienſtag | Ernſt |
| 14 | Mittwoch | *Mitfaſten* |
| 15 | Donnerſt. | Chriſtoph |
| 16 | Freitag | Chriſtian |
| 17 | Sonnab. | *Gertraut* |
| | *12. Lätare.* | |
| 18 | *Sonntag* | Patritius |
| 19 | Montag | Joſeph |
| 20 | Dienſtag | Joachim |
| 21 | Mittwoch | Benedict. |
| 22 | Donnerſt. | Raphael |
| 23 | Freitag | Theodoſius |
| 24 | Sonnab. | Gabriel |
| | *13. Judica.* | |
| 25 | *Sonntag* | *Mar. Verkündig.* |
| 26 | Montag | Samuel |
| 27 | Dienſtag | Rupertus |
| 28 | Mittwoch | Malchus |
| 29 | Donnerſt. | Euſtachius |
| 30 | Freitag | Guido |
| 31 | Sonnab. | Jeremias |

*Mondsviertel.*

Der volle Mond den 2 März um 2 Uhr Min. Nachm.

Das letzte Viertel den 9 um 10 Uhr 37 Min. Vormitt.

Der neue Mond den 17 um 2 Uhr 45 Minut. Nachm.

Das erſte Viertel den 25 um 9 Uhr 4 Minut. Vormitt.

Der volle Mond den 31 um 11 Uhr 27 Min. Nachm.

*Tageslänge.*

1. 10 St. 46 Min.
10. 11 - 18 -
20. 11 - 58 -
30. 12 - 36 -

*Sonneneintritt:* Den 20. in den Widder Frühl. Anfang.

| | | |
|---|---|---|
| | *14. Palmarum.* | |
| 1 | *Sonntag* | Theodosius |
| 2 | Montag | Rosimunda |
| 3 | Dienstag | Ambrosius |
| 4 | Mittwoch | Maximin. |
| 5 | Donnerst. | *Gründonnerstag* |
| 6 | Freitag | *Charfreytag* |
| 7 | Sonnab. | Irenäus |
| | *15. Osterfest.* | |
| 8 | *Sonntag* | Tiburius |
| 9 | Montag | *Ostermontag* |
| 10 | Dienstag | *Osterdienstag.* |
| 11 | Mittwoch | Manasse |
| 12 | Donnerst. | Bogislaus |
| 13 | Freitag | Ezechiel |
| 14 | Sonnabend | Leo |
| | *16. Quasimod.* | |
| 15 | *Sonntag* | Julius |
| 16 | Montag | Olympius |
| 17 | Dienstag | Aaron |
| 18 | Mittwoch | Hermogen |
| 19 | Donnerstag | Sulpitius |
| 20 | Freitag | Adolarius |
| 21 | Sonnab. | Daniel |
| | *17. Mis. Dom.* | |
| 22 | *Sonntag* | Georg |
| 23 | Montag | Albert |
| 24 | Dienstag | Anacletus |
| 25 | Mittwoch | *Marc. Ev.* |
| 26 | Donnerst. | Joel |
| 27 | Freitag | Vitalis |
| 28 | Sonnab. | Anastasius |
| | *18. Jubilate.* | |
| 29 | *Sonntag* | Sibilla |
| 30 | Montag | Eutropius |

*Mondsviertel.*

Das letzte Viert. den 8 April um 3 Uhr 18 Min. Nachm.

Der neue Mond den 16 um 7 Uhr 10 Min. Vormittags.

Das erste Viert. den 23 um 4 Uhr 54 Minut. Nachmittags.

Der volle Mond den 30 um 8 Uhr 55 Minut. Vormittags.

*Tageslänge.*

1. 12 St. 40 Min.
10. 13 - 14 -
20. 13 - 50 -
30. 14 - 24 -

*Sonneneintritt:* Den 19. in den Stier.

# May.

| | | |
|---|---|---|
| 1 | Dienſtag | *Phil. Jac.* |
| 2 | Mittwoch | Sigism. |
| 3 | Donnerſt. | *Erfindung* |
| 4 | Freitag | Florian |
| 5 | Sonnab. | Gotthard |
| | *19. Cantate.* | |
| 6 | *Sonntag* | Gottfried |
| 7 | Montag | Manaſſe |
| 8 | Dienſtag | Hiob |
| 9 | Mittwoch | Gordius |
| 10 | Donnerſt. | Gangolf |
| 11 | Freitag | Charlotta |
| 12 | Sonnab. | Servatius |
| | *20. Rogate.* | |
| 13 | *Sonntag* | Chriſtian |
| 14 | Montag | Sophia |
| 15 | Dienſtag | Saara |
| 16 | Mittwoch | Torpetus |
| 17 | Donnerſt. | *Himmelf. Chriſt.* |
| 18 | Freitag | Liberius |
| 19 | Sonnab. | Potentia |
| | *21. Exaudi.* | |
| 20 | *Sonntag* | Athanaſ. |
| 21 | Montag | Prudent |
| 22 | Dienſtag | Helena |
| 23 | Mittwoch | Deſidor |
| 24 | Donnerſt. | Eſther |
| 25 | Freitag | *Urban* |
| 26 | Sonnab. | Beda |
| | *22. Pfingſtfeſt.* | |
| 27 | *Sonntag* | Lucianus |
| 28 | Montag | *Pfingſtmontag* |
| 29 | Dienſtag | *Pfingſtdienſtag.* |
| 30 | Mittwoch | *Quatember* |
| 31 | Donnerſt. | Maximin |

*Mondsviertel.*

Das letzte Viertel den 7 May um 8 Uhr 50 Min. Nachmitt.

Der neue Mond den 15 um 8 Uhr 52 Minut. Nachmitt.

Das erſte Viertel den 22 um 10 Uhr 15 Min. Nachm.

Der volle Mond den 29 um 7 Uhr 0 Min. Nachmitt.

*Tageslänge.*

1. 14 St. 28 Min.
10. 14 - 56 -
20. 15 - 22 -
30. 15 - 44 -

D. 15 M. Ab. 9 Uhr. Unſichtb. Sonnenfinſtern.

Den 29 May Abends 5 Uhr 10 Minut. ſichtb. Mondfinſt. kann ab. nur zum Theil geſeh. werd. weil der Mond um 7 U. 58 M. aufgeht; das Ende iſt um 8 U. 35 Min.

*Sonneneintritt:* Den 20. in die Zwillinge.

# Junius.

| | | |
|---|---|---|
| 1 | Freitag | Nicodemus |
| 2 | Sonnab. | Marcellin |
| | *23. Fest Trinit.* | |
| 3 | *Sonntag* | Wigand |
| 4 | Montag | Petronella |
| 5 | Dienstag | J. Pfördn. |
| 6 | Mittwoch | Carpasius |
| 7 | Donnerst. | *Frohnl. Chr.* |
| 8 | Freitag | Medardus |
| 9 | Sonnab. | Renatus |
| | *24. 1 Trinitatis.* | |
| 10 | *Sonntag* | Onophrius |
| 11 | Montag | Barnabas |
| 12 | Dienstag | Bogislaus |
| 13 | Mittwoch | Tobias |
| 14 | Donnerst. | Elisäus |
| 15 | Freitag | *Vitus* |
| 16 | Sonnab. | Justina |
| | *25. 2 Trinitatis.* | |
| 17 | *Sonntag* | Arnolph |
| 18 | Montag | Gervasius |
| 19 | Dienstag | Sulpitius |
| 20 | Mittwoch | Achatius |
| 21 | Donnerst. | Albanus |
| 22 | Freitag | Bahlides |
| 23 | Sonnab. | Elogus |
| | *26. 3 Trinitatis.* | |
| 24 | *Sonntag* | *Joh. Täuf.* |
| 25 | Montag | Jeremias |
| 26 | Dienstag | Maxentius |
| 27 | Mittwoch | 7 Schläfer |
| 28 | Donnerst. | Leo |
| 29 | Freitag | *Pet. Paul.* |
| 30 | Sonnab. | Paul. Ged. |

*Mondsviertel.*

Das letzte Viert. den 6 Junius um 2 Uhr 20M. Nachmittags.

Der neue Mond den 14 um 7 Uhr 52 M. Vorm.

Das erste Viertel den 21 um 2 Uhr. 34 M. Vormittags.

Der volle Mond den 28 um 6 Uhr 22 M. Vormittags.

*Tageslänge.*

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | 15 St. | 48 | Min. |
| 10. | 15 - | 58 | - |
| 20. | 16 - | 4 | - |
| 30. | 16 - | 2 | - |

*Sonnenaintritt:* Den 20. in den Krebs - Sommers - Anfang.

| | | |
|---|---|---|
| | 27. 4. *Trinitatis.* | |
| 1 | *Sonntag* | Cornelius |
| 2 | Montag | *Mar. Heims.* |
| 3 | Dienſtag | Demetrius |
| 4 | Mittwoch | Ulrich |
| 5 | Donnerſt. | Joh. Huſs |
| 6 | Freitag | Wilibald |
| 7 | Sonnab. | Eſaias |
| | 28. 5 *Trinitatis.* | |
| 8 | *Sonntag* | *Kilian* |
| 9 | Montag | Cyrillus |
| 10 | Dienſtag | 7 Brüder |
| 11 | Mittwoch | Pius |
| 12 | Donnerſt. | Heinrich |
| 13 | Freitag | Margaretha |
| 14 | Sonnab. | Bonavent |
| | 29. 6 *Trinitatis.* | |
| 15 | *Sonntag* | *Apoſt. Thl.* |
| 16 | Montag | Alexius |
| 17 | Dienſtag | Roſina |
| 18 | Mittwoch | Rufina |
| 19 | Donnerſt. | Elias |
| 20 | Freitag | Paraxedes |
| 21 | Sonnab. | Apollinaris |
| | 30. 7 *Trinitatis* | |
| 22 | *Sonntag* | *Mar. Magd.* |
| 23 | Montag | Chriſtiana |
| 24 | Dienſtag | Anna |
| 25 | Mittwoch | *Jacobus* |
| 26 | Donnerſt. | Martha |
| 27 | Freitag | Panthal |
| 28 | Sonnab. | Beatrix |
| | 31. 8 *Trinitatis.* | |
| 29 | *Sonntag* | Abdon |
| 30 | Montag | Germanus |
| 31 | Dienſtag | Theobaldus |

*Mondsviertel.*

Das letzte Viert. den 6 Julius 7 Uhr 22 Min. Vormittags.

Der neue Mond den 13 um 4 Uhr 38 M. Nachmittags.

Das erſte Viertel den 20 um 7 Uhr 36 M. Vormittags.

Der volle Mond den 27 um 7 Uhr 20 M. Nachmittags.

*Tageslänge.*

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | 16 St. | 0 Min. | |
| 10. | 15 | 50 | - |
| 20. | 15 | 32 | - |
| 30. | 15 | 16 | - |

*Sonnenseintr.:* Den 22. i. d. Löw. Hundst. Anf.

# August.

| | | |
|---|---|---|
| 1 | Mittwoch | Petr. Kettf. |
| 2 | Donnerſt. | Hanibal |
| 3 | Freitag | Auguſt |
| 4 | Sonnab. | Ariſtarch |
| | *32. 9 Trinitatis.* | |
| 5 | *Sonntag* | Afra |
| 6 | Montag | *Verkl. Chriſt.* |
| 7 | Dienſtag | Cyriacus |
| 8 | Mittwoch | Romanus |
| 9 | Donnerſt. | Laurent. |
| 10 | Freitag | Herrmann |
| 11 | Sonnab. | Clara |
| | *33. 10 Trinitatis.* | |
| 12 | *Sonntag* | Hypolytus |
| 13 | Montag | Bertram |
| 14 | Dienſtag | Rochus |
| 15 | Mittwoch | *Mar. Himmelf.* |
| 16 | Donnerſt. | Verona |
| 17 | Freitag | Agapitus |
| 18 | Sonnab. | Sebald |
| | *34. 11 Trinitatis.* | |
| 19 | *Sonntag* | Bernhard |
| 20 | Montag | Anaſtaſius |
| 21 | Dienſtag | Priamus |
| 22 | Mittwoch | Zachäus |
| 23 | Donnerſt. | Ludwig |
| 24 | Freitag | *Bartholomaeus.* |
| 25 | Sonnab. | Caſtor |
| | *35. 12 Trinitatis.* | |
| 26 | *Sonntag* | Gebhard |
| 27 | Montag | Auguſtin |
| 28 | Dienſtag | Benjamin |
| 29 | Mittwoch | *Joh. Enth.* |
| 30 | Donnerſt. | Rebecca |
| 31 | Freytag | Paulinus |

*Mondsviertel.*

Das letzte Viert. den 4 Auguſt um 11 Uhr 3 M. Nachmittags.

Der neue Mond den 12 dieſes um 0 Uhr 15 M. Vormittags.

Das erſte Viertel den 18 um 2 Uhr 50 M. Nachmittags.

Der volle Mond den 26 um 10 Uhr 29 M. Vormittags.

*Tageslänge.*

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | 14 St. | 2 Min. | |
| 10. | 14 | 34 | - |
| 20. | 14 | 2 | - |
| 30. | 13 | 28 | - |

*Sonneneintritt:* Den 22. in die Jungfrau.

Ende der Hundstage.

# SEPTEMBER.

| | | |
|---|---|---|
| 1 | So.nnab. | Aegidius |
| | *36. 13 Trinitatis.* | |
| 2 | *Sonntag* | Rahel |
| 3 | Montag | Salomon |
| 4 | Dienſtag | Moſes |
| 5 | Mittwoch | Nathanael |
| 6 | Donnerſt. | Magnus |
| 7 | Freitag | Regina |
| 8 | Sonnab. | *Mar. Geb.* |
| | *37. 14 Trinitatis.* | |
| 9 | *Sonntag* | Gorgonius |
| 10 | Montag | Soſthenes |
| 11 | Dienſtag | Proteus |
| 12 | Mittwoch | Syrus |
| 13 | Donnerſt. | Maternus |
| 14 | Freitag | *Erhöhung* |
| 15 | Sonnab. | Nicodemus |
| | *38. 15 Trinitatis.* | |
| 16 | *Sonntag* | Euphemia |
| 17 | Montag | Alexius |
| 18 | Dienſtag | Titus |
| 19 | Mittwoch | *Quatember.* |
| 20 | Donnerſt. | Eſther |
| 21 | Freitag | *Matthäus* |
| 22 | Sonnab. | Mauritius |
| | *39. 16 Trinitatis.* | |
| 23 | *Sonntag* | Thecla |
| 24 | Montag | *Joh. Empf.* |
| 25 | Dienſtag | Cleophas |
| 26 | Mittwoch | Cyprianus |
| 27 | Donnerſt. | Cosmus |
| 28 | Freitag | Wenceslaus |
| 29 | Sonnab. | *Michael* |
| | *40. 17 Trinitatis.* | |
| 30 | *Sonntag* | Hieronym. |

*Mondsviertel.*

Das letzte Viert. den 3 Sept. um 1 Uhr 12 M. Nachmittags.

Der neue Mond den 10 um 7 Uhr 53 M. Vorm.

Das erſte Viertel den 17 um 9 Uhr 35 M. Vorm.

Der volle Mond den 25 um 2 Uhr 53 M. Vorm.

*Tagesl[illegible]nge.*

1. 13 St. 22 Min.
10. 12 - 48 -
20. 12 - 10 -
30. 11 - 34 -

*Sonneneintritt:* Den 22. in die Wage.
Herbſt-Anfang.

# October.

| | | |
|---|---|---|
| 1 | Montag | Remigius |
| 2 | Dienſtag | Leodegard |
| 3 | Mittwoch | Maximil. |
| 4 | Donnerſt. | Franz |
| 5 | Freitag | Aurelia |
| 6 | Sonnab. | Fides |
| | *41. 18 Trinitatis.* | |
| 7 | *Sonntag* | Amalia |
| 8 | Montag | Dionyſius |
| 9 | Dienſtag | Charitas |
| 10 | Mittwoch | Burkhard |
| 11 | Donnerſt. | Ehrenfried |
| 12 | Freitag | Wendelin |
| 13 | Sonnab. | Calixtus |
| | *42. 19 Trinitatis.* | |
| 14 | *Sonntag* | Hedwig |
| 15 | Montag | Lucianus |
| 16 | Dienſtag | *Gallus* |
| 17 | Mittwoch | Ferdinand |
| 18 | Donnerſtag | *Luc. Evang.* |
| 19 | Freitag | Thieleman |
| 20 | Sonnab. | Urſula |
| | *43. 20 Trinitatis.* | |
| 21 | *Sonntag* | Cordula |
| 22 | Montag | Severin |
| 23 | Dienſtag | Samuel |
| 24 | Mittwoch | Criſpin |
| 25 | Donnerſt. | Amandus |
| 26 | Freitag | Sabina |
| 27 | Sonnab. | Narciſſus |
| | *44. 21 Trinitatis.* | |
| 28 | *Sonntag* | *Sim. Jud.* |
| 29 | Montag | Theoneſtus |
| 30 | Dienſtag | Pelagia |
| 31 | Mitwoch | *Reformations-F.* |

*Mondsviertel.*

Das letzte Viert. den 3 Octobr. um 1 Uhr 18 M. Vormittags.

Der neue Mond den 9 Octobr. um 4 Uhr 23 Min. Nachmitt.

Das erſte Viertel den 16 Octobr. um 4 Uhr 2 M. Nachm.

Der volle Mond den 24 Octobr. um 8 Uhr 2 M. Nachm.

*Tageslänge.*

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | 11 St. | 30 | Min. |
| 10. | 11 - | — | - |
| 20. | 10 - | 24 | - |
| 30. | 9 - | 50 | - |

*Sonneneintritt:* Den 23. in den Scorpion.

# NOVEMBER.

| | | |
|---|---|---|
| 1 | Donnerſt. | *Aller Heil.* |
| 2 | Freitag | *Aller Seel.* |
| 3 | Sonnab. | Gottlieb |
| | *45. 22 Trinitatis.* | |
| 4 | *Sonntag* | Blandina |
| 5 | Montag | Leonhard |
| 6 | Dienſtag | Erdmann |
| 7 | Mittwoch | Malachias |
| 8 | Donnerſtag | Theodor |
| 9 | Freitag | Jonas |
| 10 | Sonnab. | *Mart. Luth.* |
| | *46. 23 Trinitatis.* | |
| 11 | *Sonntag* | *Mart. B.* |
| 12 | Montag | Briccius |
| 13 | Dienſtag | Levins |
| 14 | Mittwoch | Leopold |
| 15 | Donnerſt. | Ottomar |
| 16 | Freitag | Hugo |
| 17 | Sonnab. | Helichius |
| | *47. 24 Trinitatis.* | |
| 18 | *Sonntag* | Amos |
| 19 | Montag | Eliſabeth |
| 20 | Dienſtag | Cäcilia |
| 21 | Mittwoch | *Mar. Opf.* |
| 22 | Donnerſtag | Clemens |
| 23 | Freitag | Chryſogen |
| 24 | Sonnab. | Conrad |
| | *48. 25 Trinitatis.* | |
| 25 | *Sonntag.* | Catharina |
| 26 | Montag | Buſſo |
| 27 | Dienſtag | Gunther |
| 28 | Mittwoch | Saturin |
| 29 | Donnerſtag | Otto |
| 30 | Freytag | *Andreas* |

*Mondsviertel.*

Das letzte Viert. den 1 Novembr. um 11 Uhr 23 M. Vorm.

Der neue Mond den 8 Nov. um 2 Uhr 39 M. Vormittags.

Das erſte Viertel den 15. Novemb. um 10 Uhr 14 Min. Vorm.

Der volle Mond den 23 Novembr. um 1 U. 33 M. Nachm.

Das lezte Viert. den 30 Nov. um 7 Uhr 41 M. Nachm.

*Tageslänge.*

1. 9 St. 42 Min.
10. 9 - 14 -
20. 8 - 44 -
30. 8 - 20 -

Den 8 Nov. unſichtbare Sonnenfinſt.

Den 23 Nov. unſichtbar. Mondfinſtern.

*Sonneneintritt*: Den 2. in den Schützen.

# DECEMBER.

| | | |
|---|---|---|
| 1 | Sonnab. | Longinus |
| | *49. 1. Advent.* | |
| 2 | *Sonntag* | Candidus |
| 3 | Montag | Caſſianus |
| 4 | Dienſtag | *Barbara* |
| 5 | Mittwoch | Nicolaus |
| 6 | Donnerſtag | Bruno |
| 7 | Freitag | Joachim |
| 8 | Sonnab | *Mar. Empf.* |
| | *50. 2 Advent.* | |
| 9 | *Sonntag* | Judith |
| 10 | Montag | Damaſcus |
| 11 | Dienſtag | Epimachus |
| 12 | Mittwoch | Nicafius |
| 13 | Donnerſtag | *Luciä* |
| 14 | Freitag | Johanna |
| 15 | Sonnab. | Ananias |
| | *51. 3 Advent.* | |
| 16 | *Sonntag* | Ignatius |
| 17 | Montag | Lazarus |
| 18 | Dienſtag | Micheas |
| 19 | Mittwoch | *Quatember* |
| 20 | Donnerſtag | Iſaac |
| 21 | Freitag | *Thomas* |
| 22 | Sonnab. | Ammon |
| | *52. 4 Advent.* | |
| 23 | *Sonntag* | David |
| 24 | Montag | Adam Eva |
| 25 | Dienſtag | *Chriſtfeſt* |
| 26 | Mittwoch | *Stephan* |
| 27 | Donnerſtag | *Joh. Evang.* |
| 28 | Freitag | *Unſch. Kind.* |
| 29 | Sonnab. | Jonathan |
| | *1. Sonntag n. Weihnachten.* | |
| 30 | *Sonntag* | David |
| 31 | Montag | Sylveſter |

*Mondsviertel.*

Der neue Mond den 7 um 2 Uhr 5 M. Nachmittags.

Das erſte Viertel den 15 dieſes um 7 Uhr.

Der volle Mond den 23 um 5 Uhr 7 M. Vormittags.

Das letzte Viertel den 30 d. um 3 Uhr 27 M. Vormittags.

*Tageslänge.*

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | 8 St. | 18 Min. |
| 10. | 8 - | 2 - |
| 20. | 7 - | 56 - |
| 30. | 7 - | 58 - |

*Sonnenwint.* Den 21. in d. Steinbock. Wint. Anf.

# Der neue Pausias

und

# Sein Blumenmädchen.

---

Pausias von Sicyon der Mahler, war, als Jüngling, in Glycoren, seine Mitburgerin, verliebt, welche, Blumenkränze zu winden, einen sehr erfinderischen Geist hatte; sie wetteiferten mit einander, und er brachte die Nachahmung der Blumen zur größten Mannigfaltigkeit. Endlich mahlte er seine Geliebte, sitzend, mit einem Kranze beschäftigt. Dieses Bild wurde für eines seiner besten gehalten, und die Kranzwinderin oder Kranzhändlerin genannt, weil Glycere sich auf diese Weise, als ein armes Mädchen ernährt hatte. Lucius Lucullus kaufte eine Copie in Athen für zwey Talente.

Plinius B. XXXV. C. XI.

*Sie.*

Schütte die Blumen nur her zu meinen Füſsen und deinen!
Welch ein chaotiſches Bild holder Verwirrung du ſtreuſt!

*Er.*

Du erſcheineſt als Liebe, die Elemente zu knüpfen,
Wie du ſie bindeſt ſo wird nun erſt ein Leben daraus.

*Sie.*

Sanft berühre die Roſe, ſie bleibt im Körbchen verborgen,
Wo ich dich finde, mein Freund, öffentlich reich' ich ſie dir.

*Er.*

Und ich thu' als kennt ich dich nicht
und danke dir freundlich;
Aber dem Gegengeſchenk weichet die
Geberinn aus.

*Sie.*

Reiche die Hiacinthe mir zu und reiche
die Nelke,
Daſs die frühe zugleich neben der
ſpäteren ſey.

*Er.*

Laſs zu deinen Füſsen mich ſitzen, im
blumigen Kreiſe,
Und ich fülle den Schoos dir mit der
lieblichen Schaar.

*Sie.*

Reiche den Faden mir erſt, dann ſollen
die Gartenverwandten,
Die ſich von ferne nur ſahn, neben
einander ſich freun.

*Er.*

Was bewund'r ich zuerſt? was zuletzt? die herrlichen Blumen?
Oder der Finger Geſchick? oder der Wählerinn Geiſt?

*Sie.*

Gieb auch Blätter, damit der Glanz der Blumen nicht blende.
Auch das Leben verlangt ruhige Blätter im Kranz.

*Er.*

Sage was wählſt du ſo lange bey dieſem Strauſse? gewiſs iſt
Dieſer jemand geweyht den du beſonders bedenkſt.

*Sie.*

Hundert Sträuſse vertheil ich des Tags und Kränze die Menge;
Aber den ſchönſten doch bring ich am Abend dir zu.

5.

*Er.*

Ach nur glücklich wäre der Mahler, der dieſe Gewinde
Mahlte, das blumige Feld, ach! und die Göttin zuerſt.

*Sie.*

Aber doch mäſsig glücklich iſt der, mich dünkt, der am Boden
Hier ſitzt, dem ich, den Kuſs reichend, noch glücklicher bin.

*Er.*

Ach! Geliebte noch Einen! die neidiſchen Lüfte des Morgens
Nahmen den erſten ſogleich mir von den Lippen hinweg.

*Sie.*

Wie der Frühling die Blumen mir giebt, ſo geb ich die Küſſe
Gern dem Geliebten und hier ſey mit dem Kuſſe der Kranz.

*Er.*

Hätt' ich das hohe Talent des Pauſias glücklich empfangen!
Nachzubilden den Kranz wär ein Geſchäfte des Tags!

*Sie.*

Schön iſt er wirklich, ſieh ihn nur an, es wechſeln die ſchönſten
Kinder Florens um ihn, bunt und gefällig, den Tanz.

*Er.*

In die Kelche verſenkt ich mich dann und erſchöpfte den ſüſsen
Zauber, den die Natur über die Kronen ergoſs.

*Sie.*

Und ſo fänd ich am Abend noch friſch den gebundenen Kranz hier,
Unverwelklich ſpräch er von der Tafel uns an.

Digitized by Google

*Er.*

Ach wie fühl ich mich arm und unvermögend! wie wünscht ich
Feſt zu halten das Glück, das mir die Augen verſengt.

*Sie.*

Unzufriedener Mann, du biſt ein Dichter und neidiſt
Jenes Alten Talent, brauche das deinige doch!

*Er.*

Ach! erreicht wohl der Dichter den Schmelz der farbigen Blumen?
Neben deiner Geſtalt bleibt nur ein Schatten ſein Wort!

*Sie.*

Aber vermag der Mahler wohl auszudrücken: ich liebe!
Nur dich lieb ich, mein Freund! lebe für dich nur allein!

*Er.*

Ach! und der Dichter ſelbſt vermag nicht zu ſagen: ich liebe!
Wie du himmliſches Kind ſüſs mir es ſchmeichelſt ins Ohr.

*Sie.*

Viel vermögen ſie beyde, doch bleibt die Sprache des Kuſſes,
Mit der Sprache des Blicks nur den Verliebten geſchenkt.

*Er.*

Du vereinigeſt alles, du dichteſt und mahleſt mit Blumen;
Florens Kinder ſind dir Farben und Worte zugleich.

*Sie.*

Nur ein vergängliches Werk entwindet der Hand ſich des Mädchens
Jeden Morgen, es welkt früher als Abend die Pracht.

*Er.*

Auch so geben die Götter vergängliche Gaben, damit sie
Stets erneuend und stets ziehen die Herrlichen an.

*Sie.*

Hat dir doch kein Strauſs, kein Kranz des Tages gefehlet,
Seit dem ersten der dich mir so von Herzen verband.

*Er.*

Ja noch hängt er zu Hause der erste Kranz in der Kammer,
Den du mir, den Schmauſs lieblich umwandelnd, gereicht.

*Sie.*

Da ich den Becher dir kränzte und eine Blume hineinfiel,
Und du trankst und riefst: Mädchen die Blumen sind Gift.

*Er.*

Und dagegen du ſagteſt: ſie ſind voll Honig die Blumen;
Aber die Biene nur findet die Süſsigkeit aus.

*Sie.*

Und der rohe Timanth ergriff mich und ſagte: die Hummeln
Forſchen des herrlichen Kelchs ſüſse Geheimniſſe wohl.

*Er.*

Und du wandteſt dich weg und wollteſt fliehen, es ſtürzten,
Vor dem täppiſchen Mann, Körbchen und Blumen hinab.

*Sie.*

Und du riefſt ihm gebietend: das Mädchen laſs nur! die Sträuſse,
So wie das Mädchen ſelbſt, ſind für den feineren Sinn.

*Er.*

Aber fester hielt er dich nur, es grinste der Lacher
Und dein Kleid zerriſs oben vom Nacken herab.

*Sie.*

Und du warfſt in begeiſterter Wuth den Becher hinüber,
Daſs er am Schädel ihm, häſslich vergoſſen, erklang.

*Er.*

Wein und Zorn verblendeten mich, doch ſah ich den weiſsen
Nacken, die herrliche Bruſt, die du bedeckteſt, im Blick.

*Sie.*

Welch ein Getümmel ward und ein Aufſtand! purpurn das Blut lief
Mit dem Weine vermiſcht, gräulich dem Gegner vom Haupt.

*Er.*

Und ich sahe nur dich am Boden kniend, verdrießlich,
Mit der einen Hand hieltst das Gewand du hinauf.

*Sie.*

Und es flogen die Teller nach dir! ich sorgte den edlen
Fremdling träfe der Wurf kreisend geschwungnen Metalls,

*Er.*

Und doch sah ich nur dich, wie mit der anderen Hand du
Körbchen, Blumen und Kranz sammeltest unter dem Stuhl.

*Sie.*

Schüzend tratest du vor, dass nicht mich der Zufall verletzte
Oder der zornige Wirth, weil ich das Mahl ihm gestört.

*Er.*

Ja ich erinnre mich noch, ich nahm den Teppich, wie einer
Der auf dem linken Arm gegen den Stier ihn bewegt.

*Sie.*

Ruhe gebot der Wirth und sinnige Freunde, da schlüpft' ich
Sachte hinaus, nach dir wendet' ich immer den Blick.

*Er.*

Ach du warst mir verschwunden! vergebens sucht ich in allen
Winkeln des Hauses herum, so wie auf Strafsen und Markt.

*Sie.*

Schamhaft blieb ich verborgen, das unbescholtene Mädchen,
Sonst von den Bürgern geliebt, war nun das Mährchen des Tags.

*Er.*

Blumen ſah ich genug und Sträuſse, Kränze die Menge;
Aber du fehlteſt mir, aber du fehlteſt der Stadt.

*Sie.*

Stille ſaſs ich zu Hauſe, da blätterte los ſich vom Zweige
Manche Roſe, ſo auch welkte die Nelke dahin.

*Er.*

Mancher Jüngling ſprach auf dem Platz: da liegen die Blumen!
Aber die liebliche fehlt, die ſie verbände zum Kranz.

*Sie.*

Kränze band ich indeſſen zu Hauſ' und liefs ſie verwelken.
Sichſt du, da hängen ſie noch, neben dem Heerde, für dich.

*Er.*

Auch ſo welkte der Kranz, der erſte, ich
hatt' im Getümmel
Nicht ihn vergeſſen, ich hängt' neben
dem Bett mir ihn auf.

*Sie.*

Und ich ſah die Kränze des Abends und
ſaſs noch und weinte,
Bis in der dunkelen Nacht Farbe nach
Farbe verloſch.

*Er.*

Irrend ging ich umher und fragte nach
deiner Behauſung,
Keiner der eitelſten ſelbſt konnte mir
geben Beſcheid.

*Sie.*

Keiner hat je mich beſucht und keiner
weiſs die verborgne
Wohnung, die Gröſse der Stadt birget
die Aermere leicht.

*Er.*

Irrend lief ich umher und flehte zur ſpähenden Sonne:
Zeige mir, mächtiger Gott, wo du im Winkel ihr ſcheinſt!

*Sie.*

Groſse Götter hörten dich nicht, doch Penia hört es,
Éndlich trieb die Noth nach dem Gewerbe mich aus.

*Er.*

Trieb nicht noch dich ein anderer Gott, den Beſchützer zu ſuchen?
Hatte nicht Amor für uns wechſelnde Pfeile getauſcht?

*Sie.*

Spähend ſucht ich dich auf bey vollem Markt und ich ſah dich.

*Er.*

Und es hielt das Gedräng keines der Liebenden auf.

*Sie.*

Ja wir theilten das Volk, wir kamen zuſammen, du ſtandeſt,

*Er.*

Und du ſtandeſt vor mir, ja! und wir waren allein.

*Sie.*

Mitten unter den Menſchen! ſie ſchienen nur Sträucher und Bäume,

*Er.*

Und mir ſchien ihr Getöſ' nur ein Gerieſel des Quells.

*Sie.*

Immer allein ſind Liebende ſich in der gröſsten Verſammlung;

Aber ſind ſie zu zwey, ſtellt auch der dritte ſich ein.

*Er.*

Amor ja! er ſchmückt ſich mit dieſen herrlichen Kränzen,

Schütte die Blumen nun doch fort aus
dem Schooſe den Reſt.

*Sie.*

Nun ich ſchüttle ſie weg, die ſchönen!
in deiner Umarmung,
Lieber, geht mir auch heut wieder
die Sonne nur auf.

GOETHE.

## Der Ehemann.

Hat nun der Mann ein Weib gewonnen,
Wie fühlt er ſich ſo froh und reich!
In eigne Fäden eingeſponnen,
Wird er doch bald der Raupe gleich.

Ihr ähnlich, wie er ſonſt gekrochen,
Erſtarrt, ſeit ihn das Nez umfing,
Hat er im Nu es auch durchbrochen,
Und huſcht davon als Schmetterling.

B.

## Mein Traum.

Als vom Schlummer leis beſchlichen
Sich die Augenwimper ſchloſs,
Und die Bilder all erblichen
Die der Tag um mich ergoſs,
Sank mit roſigem Gefieder,
Süſſer Ruhe Unterpfand,
Jüngſt ein Traum zu mir hernieder;
Den mein Schutzgeiſt mir geſandt.

Rauher Winterſtürme Brauſen
Hörte mein erſchrocknes Ohr;
Kalter Regengüſſe Sauſen
Schallte aus dem Sturm hervor,
Als am Fenſter meiner Zelle
Wo ich ängſtlich ſtill gelauſcht,
Mir ein Fittich, ſilberhelle
Schnell und ſcheu vorüberrauſcht.

Schwirrend ſtreift es hin und wieder,
Schlägt das kleine Flügelpaar;
Am erſtarrenden Gefieder
Zittern Eiſestropfen gar;
Sieh das arme Vöglein ſpähet
Nach dem Neſtgen, das gewiſs
Dieſer Sturm, dem nichts entgehet,
Von des Hüttchens Obdach riſs.

Voll Erbarmen nehm' ich leiſe
Vom beeiſten Fenſter ihn;
Und es ſinkt der ſilberweiſse
Starre Vogel leblos hin,
Mir in Schooſs, es bebt der Arme
Auf der Hand, die zart und feſt,
Aengſtlich ihn, daſs er erwarme
An den heiſſen Buſen preſst.

Lebe, holder Fremdling, lebe!
Ruf' ich ſelbſt mir kaum bewuſst;

Deinem kleinen Herzen gebe,
Neue Wärme dieſe Bruſt!
Sieh, er regt ſich, friſch erhebet
Das geſenkte Köpfgen ſich,
Und mit munterm Fluge ſchwebet
Dankbar flatternd er um mich.

Aber, Wunder ſonder Gleichen!
Meinen Augen trau ich kaum;
Zarte Roſenglieder ſteigen
Aus der Federn ſeidnem Pflaum.
Goldne Ringellocken blinken,
Wo der kleine Schnabel war
Seh ich Purpurlippen winken
Und ein ſchelmiſch Augenpaar.

Kurz, am ſchönſten Knaben zeiget
Sich vom Vogel keine Spur,
Von der weiſsen Schulter ſteiget
Goldbeſäumt die Schwinge nur.

Ha! Du Schelm! gar wohl belehret
Dieſes Goldgefieder mich,
Ich erkenn' auch unbewehret
Loſeſten der Vögel dich.

Süſs und lispelnd jetzt verſetzet
Er mit lächelndem Geſicht:
Daſs dich mein Geſchoſs verletzet,
Fürchte holdes Mädchen nicht.
In der Bruſt die mich gepfleget,
Ruht ein warmes treues Herz,
Doch das ruhige beweget
Nie der Liebe ſüſser Schmerz.

Liſtig wollt ich dich betrügen;
Mitleid öfnet oft die Thür,
Deine Schweſtern zu beſiegen,
Zu den weichen Herzen mir,
Doch das deine ſey verſchonet;
Dieſe ſtille Bruſt verlieh

Einem Gotte Schutz, er lohnet
Dir mit ſolchem Undank nie.

Meiner Fackel Glut entzünde
Sie mit wilder Flamme nicht,
Und es raube meine Binde
Nie der heitern Blicke Licht;
Schmerzlos ſey dir meiner Pfeile
Meines goldnen Bogens Macht."
Hier entfloh mit loſer Eile
Amor, und ich war erwacht.

A.

## Die Verwandlung.

Wie die Geſchichte, zur Dichtung erhöht, im Gemählde bezaubert,
Alſo das Leben, ſobald Liebe zur Fabel es macht.

R.

# Der Ring
## des Polykrates.

*Ballade.*

Er ſtand auf ſeines Daches Zinnen,
Er ſchaute mit vergnügten Sinnen,
Auf das beherrſchte Samos hin.
Dieſs alles iſt mir unterthänig,
Begann er zu Egyptens König,
Geſtehe daſs ich glücklich bin.

Du haſt der Götter Gunſt erfahren!
Die vormals deines Gleichen waren,
Sie zwingt jetzt deines Scepters Macht.
Doch einer lebt noch, ſie zu rächen,
Dich kann mein Mund nicht glücklich ſprechen,
So lang des Feindes Auge wacht.

Und

Und eh der König noch geendet,
Da ſtellt ſich, von Milet geſendet,
Ein Bote dem Tirannen dar:
"Laſs, Herr, des Opfers Düfte ſteigen,
Und mit des Lorbeers muntern Zweigen
Bekränze dir dein feſtlich Haar.

Getroffen ſank dein Feind vom Speere,
Mich ſendet mit der frohen Mähre
Dein treuer Feldherr Polydor."
Und nimmt aus einem ſchwarzen Becken
Noch blutig, zu der Beiden Schrecken,
Ein wohlbekanntes Haupt hervor.

Der König tritt zurück mit Grauen:
"Doch warn' ich dich, dem Glück zu trauen,
Verſetzt er mit beſorgtem Blick.
Bedenk, auf ungetreuen Wellen,
Wie leicht kann ſie der Sturm zerſchellen,
Schwimmt deiner Flotte zweifelnd Glück."

Und eh er noch das Wort geſprochen,
Hat ihn der Jubel unterbrochen,
Der von der Rhede jauchzend ſchallt.
Mit fremden Schätzen reich beladen,
Kehrt zu den heimiſchen Geſtaden
Der Schiffe maſtenreicher Wald.

Der königliche Gaſt erſtaunet:
Dein Glück iſt heute gut gelaunet,
Doch fürchte ſeinen Unbeſtand.
Der Sparter nie beſiegte Schaaren
Bedräuen dich mit Kriegsgefahren,
Schon nahe ſind ſie dieſem Strand.

Und eh ihm noch das Wort entfallen,
Da ſieht mans von den Schiffen wallen,
Und tauſend Stimmen rufen: Sieg!
Von Feindesnoth ſind wir befreyet,
Die Sparter hat der Sturm zerſtreuet,
Vorbey, geendet iſt der Krieg.

Das hört der Gaſtfreund mit Entſetzen:
Fürwahr, ich muſs dich glücklich ſchätzen,
Doch, ſpricht er, zittr' ich für dein Heil!
Mir grauet vor der Götter Neide,
Des Lebens ungemiſchte Freude
Ward keinem Irdiſchen zu Theil."

Auch mir iſt alles wohl gerathen,
Bey allen meinen Herrſcherhaten
Begleitet mich des Himmels Huld,
Doch hatt ich einen theuren Erben,
Den nahm mir Gott, ich ſah ihn ſterben,
Dem Glück bezahlt' ich meine Schuld.

Drum, willſt du dich vor Leid bewahren,
So flehe zu den Unſichtbaren,
Daſs ſie zum Glück den Schmerz verleyhn.
Noch keinen ſah ich frölich enden,
Auf den mit immer vollen Händen
Die Götter ihre Gaben ſtreun.

Und wenns die Götter nicht gewähren,
So acht' auf eines Freundes Lehren,
Und rufe selbst das Unglück her,
Und was von allen deinen Schätzen
Dein Herz am höchsten mag ergetzen,
Das nimm und wirfs in dieses Meer.

Und jener spricht, von Furcht beweget:
"Von allem, was die Insel heget,
Ist dieser Ring mein höchstes Gut.
Ihn will ich den Erinnen weihen,
Ob sie mein Glück mir dann verzeihen"
Und wirft das Kleinod in die Flut.

Und bey des nächsten Morgens Lichte
Da tritt mit fröhlichem Gesichte
Ein Fischer vor den Fürsten hin:
Herr, diesen Fisch hab ich gefangen,
Wie keiner noch ins Netz gegangen,
Dir zum Geschenke bring ich ihn.

Und als der Koch den Fiſch zertheilet,
Herbey der Koch erſchrocken eilet,
Und ruft mit hoch erſtauntem Blick:
"Sieh Herr, den Ring, den du getragen,
Ihn fand ich in des Fiſches Magen,
O ohne Grenzen iſt dein Glück!

Hier wendet ſich der Gaſt mit Grauſen:
"So kann ich hier nicht ferner hauſen,
Mein Freund kannſt du nicht weiter ſeyn,
Die Götter wollen dein Verderben,
Fort eil ich, nicht mit dir zu ſterben."
Und ſprachs und ſchiffte ſchnell ſich ein.

SCHILLER.

## Sängers Einſamkeit.

Wie klingt's ſo bänglich drüben!
Trieb Liebe ihn? Was trieb ihn hin,
Was zum Klavier im Trauerſinn?
Es klingt als wie von lieben.
Horch Mädchen, wie der Sänger ſingt!
Wie's in's Gemüth der Liebe dringt,
Was heil'ge Sänger ſingen.

Da ſchlichen ſie und lauſchten
Wohl an des Sängers Fenſterrahm,
Und Zorn ihm von den Lippen kam,
Und zorn'ge Saiten rauſchten.
Es zitterten die Saiten fort;
Da kam das ſanfte Klagewort,
Der Wehmut Stimme wieder.

"Lafs ſie, die ſtumpfen Seelen!
"Ach's iſt doch hart, ſo einſam ſeyn,
"Des Lebens Luſt, des Lebens Pein
"Im eignen Buſen hehlen.
"Der Freund iſt fern, die Freundin fern,
"Der Sänger ſchlägt die Saiten gern,
"Ach, tönten ſie auch wieder!

"Wo ſeyd ihr mir Verwandte?
"Im Felſen iſt das Echo wach,
"Und tönts in keinem Herzen nach,
"In dieſem fremden Lande?
"Wohl rief ich ihm; wohl rief es mir,
"Aus allen Herzen tön' ich dir,
"Die heil'gen Sang verehren."

Siegfr. Schmidt.

## Der Zauberlehrling.

Hat der alte Hexenmeiſter,
Sich doch einmal wegbegeben!
Und nun ſollen ſeine Geiſter
Auch nach meinem Willen leben.
Seine Wort und Werke
Merkt ich, und den Brauch,
Und mit Geiſtesſtärke
Thu ich Wunder auch.
Walle! walle!
Manche Strecke,
Daſs zum Zwecke,
Waſſer flieſse,
Und, mit reichem vollem Schwalle,
Zu dem Bade ſich ergieſse.

Und nun komm du alter Beſen,
Nimm die ſchlechten Lumpenhüllen,

Biſt ſchon lange Knecht geweſen,
Nun erfülle meinen Willen.
Auf zwey Beinen ſtehe,
Oben ſey ein Kopf,
Eile nun und gehe
Mit dem Waſſertopf.
Walle! walle!
Manche Strecke,
Daſs, zum Zwecke,
Waſſer flieſse,
Und, mit reichem vollem Schwalle,
Zu dem Bade ſich ergieſse.
Seht er läuft zum Ufer nieder,
Warlich iſt ſchon an dem Fluſſe,
Und mit Blitzesſchnelle wieder
Iſt er hier mit raſchem Guſſe.
Schon zum zweytenmale!
Wie das Becken ſchwillt!
Wie ſich jede Schaale
Voll mit Waſſer füllt!

Stehe! Stehe!
Denn wir haben
Deiner Gaben
Vollgemeſſen! —
Ach ich merk es, wehe! wehe!
Hab ich doch das Wort vergeſſen!
Ach! das Wort, worauf am Ende
Er das wird was er geweſen.
Ach er läuft und bringt behende,
Wärſt du doch der alte Beſen!
Immer neue Güſſe
Bringt er ſchnell herein,
Ach! und hundert Flüſſe
Stürzen auf mich ein.
Nein nicht länger
Kann ichs laſſen,
Will ihn faſſen.
Das iſt Tücke!
Ach! nun wird mir immer bänger!
Welche Mine! welche Blicke!

O! du Ausgeburt der Hölle!
Soll das ganze Haus erſaufen?
Seh ich über jede Schwelle
Doch ſchon Waſſerſtröme laufen.
Ein verruchter Beſen
Der nicht hören will!
Stock! der du geweſen,
Steh doch wieder ſtill!
Willſts am Ende
Gar nicht laſſen;
Will dich faſſen,
Will dich halten,
Und das alte Holz behende
Mit dem ſcharfen Beile ſpalten.
Seht da kommt er ſchleppend wieder!
Wie ich mich nun auf dich werfe,
Gleich, o Kobold! liegſt du nieder,
Krachend trifft die glatte Schärfe.
Warlich braf getroffen!

Seht er iſt entzwey,
Und nun kann ich hoffen,
Und ich athme frey!
Wehe! wehe!
Beyde Theile
Stehn, in Eile,
Schon als Knechte
Völlig fertig in die Höhe!
Helft mir ach ihr hohen Mächte!

Und ſie laufen! Naſs und näſſer
Wirds im Saal und auf den Stufen,
Welch entſetzliches Gewäſſer!
Herr und Meiſter! hör mich rufen!
Ach! da kommt der Meiſter!
Herr, die Noth iſt groſs,
Die ich rief die Geiſter
Werd ich nun nicht los.
"In die Ecke,
Beſen! Beſen!

Seyds gewesen.
Denn als Geister
Ruft euch nur zu seinem Zwecke,
Erst hervor der alte Meister."

GOETHE.

## Liebe.

War sie der Flamme nicht werth, die feurig Geliebte, vergieb ihr,
Hat nur dein eigenes Herz edel und heilig geglüht.
Auch dem Gefühl, wie dem ächten Genie sind Dichtung und Liebe
Selbst sich gnügender Zweck: minder bedeutet der Stoff.

R.

## Feenreigen.

Die ſilbernen Glöckchen
Der Blume des Mais
Sie läuten zum Reihn;
Herbey in den Kreis,
Ihr ſchwärmenden Feyn!
Auf! purpurne Flöckchen
Und weiſse zu ſtreun!
Wo Mondſchein die duftige
Primel umbebt,
Da werde der luftige
Reigen gewebt.

O Luſt ſonder gleichen,
Zum Ringe verſchränkt,
Bis Luna den Höhn
Die Drachen entlenkt,

Sich nach dem Getön
Von Ariels weichen
Akkorden zu drehn!
Sei manches entzückender!
Freundlich und mild
Hat uns ein beglückender
Wahn es verhüllt.

Die Menſchen, gleich Blättern
Verſchwinden ſie früh;
In angſtvoller Haſt
Erbaun ſie mit Müh'
Den Wolkenpallaſt;
Im Räumchen von Brettern
Da finden ſie Raſt.
Wir lachen der grämlichen
Runzeln der Zeit
Und bleiben die nemlichen
Morgen wie heut.

Wir herrſchen in Reichen
Wo nimmer dein Dorn,
O Jugend, verſagt,
Die Roſe ohne Dorn
Am Pfade ſich wiegt,
Und ewig kein Zeichen
Im Sternenbuch trügt.
Wo Mondſchein die duftige
Primel umbebt,
Da werde der luftige
Reigen gewebt.

MATTHISSON.

## Genie und Talent.

Aechtes Genie veredelt den Menſchen und
ſtärkt die Empfindung,
Aber ein leichtes Talent ſchmückt nur
und ſchwächt den Verſtand.

R.

Digitized by Google

# Der Handſchuh.

## *Erzählung.*

Vor ſeinem Löwengarten,
Das Kampfſpiel zu erwarten,
Saſs König Franz,
Und um ihn die Groſsen der Krone,
Und rings auf hohem Balkone
Die Damen in ſchönem Kranz.

Und wie er winkt mit dem Finger,
Aufthut ſich der weite Zwinger,
Und hinein mit bedächtigem Schritt
Ein Löwe tritt,
Und ſieht ſich ſtumm
Rings um,
Mit langem Gähnen,
Und ſchüttelt die Mähnen,

Und ſtreckt die Glieder,
Und legt ſich nieder.

Und der König winkt wieder,
Da öfnet ſich behend
Ein zweites Thor,
Daraus rennt
Mit wildem Sprunge
Ein Tiger hervor,
Wie der den Löwen erſchaut
Brüllt er laut,
Schlägt mit dem Schweif
Einen furchtbaren Reif,
Und recket die Zunge,
Und im Kreiſe ſcheu
Umgeht er den Leu
Grimmig ſchnurrend,
Drauf ſtreckt er ſich murrend
Zur Seite nieder.

Und der König winkt wieder,
Da ſpeit das doppelt geöfnete Haus
Zwey Leoparden auf einmal aus,
Die ſtürzen mit muthiger Kampfbegier
Auf das Tigerthier,
Das pakt ſie mit ſeinen grimmigen Tatzen,
Und der Leu mit Gebrüll
Richtet ſich auf, da wirds ſtill,
Und herum im Kreis,
Von Mordſucht heiſs,
Lagern ſich die greulichen Katzen.

Da fällt von des Altans Rand
Ein Handſchuh von ſchöner Hand
Zwiſchen den Tiger und den Leu'n
Mitten hinein.

Und zu Ritter Delorges ſpottender Weiſ'
Wendet ſich Fräulein Kunigund:
"Herr Ritter iſt eure Lieb ſo heiſs

Wie ihr mirs ſchwört zu jeder Stund,
Ey ſo hebt mir den Handſchuh auf".

Und der Ritter in ſchnellem Lauf
Steigt hinab in den furchtbarn Zwinger
Mit feſtem Schritte,
Und aus der Ungeheuer Mitte
Nimmt er den Handſchuh mit keckem Finger.

Und mit Erſtaunen und mit Grauen
Sehens die Ritter und Edelfrauen,
Und gelaſſen bringt er den Handſchuh
zurück,
Da ſchallt ihm ſein Lob aus jedem Munde,
Aber mit zärtlichem Liebesblick —
Er verheifst ihm ſein nahes Glück —
Empfängt ihn Fräulein Kunigunde.
Und der Ritter ſich tief verbeugend, ſpricht:
Den Dank, Dame, begehr ich nicht,
Und verläſst ſie zur ſelben Stunde.

SCHILLER.

## Sonett.

Wo iſt die Zeit, da leicht und unbefangen
Das freye Herz im jungen Buſen ſchlug,
Da es noch nicht durch ſüſsen Selbſtbetrug
Sich quälte, nicht durch Hoffnung und Verlangen?
Da dieſer Geiſt, mit Einfalt hold umfangen,
Sich fremd noch war, und doch ſich ſelbſt genug;
Und ſtill die Bruſt kein Bild der Sehnſucht trug,
Iſt denn ſo ſchnell die goldne Zeit vergangen?
Der Ruhe Glück und ihre reinen Freuden
Sind mir entflohn auf immer mich zu meiden
Ich ſeh nur Schmerz, ich ahnde nur Gefahr.
Des Grames Hand wird künftig mich geleiten;
Und dennoch, ach! ſind alle dieſe Leiden
Jezt ſüſser mir, als ſonſt die Ruhe war.

F.

## Der Schatzgräber.

Arm an Beutel, krank am Herzen
Schleppt ich meine langen Tage,
Armuth iſt die gröſste Plage
Reichthum iſt das höchſte Gut.
Und zu enden meine Schmerzen
Ging ich einen Schatz zu graben,
Meine Seele ſollſt du haben
Schrieb ich hin mit eignem Blut.

Und ſo zog ich Kreis um Kreiſe,
Stellte wunderbare Flammen
Kraut und Knochenwerk zuſammen,
Die Beſchwörung war vollbracht,
Und auf die gelernte Weiſe
Grub ich nach dem alten Schatze
Auf dem angezeigten Platze,
Schwarz und ſtürmiſch war die Nacht.

Und ich ſah ein Licht von weiten,
Und es kam gleich einem Sterne
Hinten aus der fernſten Ferne
Eben als es zwölfe ſchlug,
Und da galt kein Vorbereiten,
Heller wards mit einem male
Von dem Glanz der vollen Schaale
Die ein ſchöner Knabe trug.

Holde Augen ſah ich blinken
Unter einem Blumenkranze,
In des Trankes Himmelglanze
Trat er in den Kreis herein
Und er hieſs mich freundlich trinken,
Und ich dacht, es kann der Knabe
Mit der ſchönen lichten Gabe
Warlich nicht der Böſe ſeyn.

Trinke Muth des reinen Lebens
Dann verſtehſt du die Belehrung

Kommſt mit ängſtlicher Beſchwörung
Nicht zurück an dieſen Ort.
Grabe hier nicht mehr vergebens
Tages Arbeit, Abendgäſte,
Saure Wochen, frohe Feſte
Sey dein künftig Zauberwort.

GOETHE.

## Die verlohrne Geliebte.

Ob ich ſie liebe wie ſonſt? O vieles lernt ich begreifen,
Doch nie, wie man vergiſst, was man ſo einzig geliebt.
Troſtlos ſchöpft wohl der Geiſt aus Lethes ſtärkender Quelle,
Doch vor dem giftigen Kelch bebt die Empfindung zurück.

R.

Pro-

# Prometheus.

Ein erhabenes Antliz verlieh er dem Menſchen, und hieſs ihn
Schaun gen Himmel, und frey das Haupt zu den Sternen erheben.
OVIDIUS.

O goldne Zeit, auf ewig hingeſchwunden!
Wie ſüſs bethört es, deine ferne Spur
In alter Sänger Sprüchen zu erkunden!
Da hauchte ſtets des Frühlings Milde nur,
Und es gedieh (ſo tönt die heil'ge Sage)
Freywillig alle Füll' im Schooſs der Flur.
Noch Krankheit kannten ſie, noch Furcht, noch Klage;
In ſüſser Ruhe, brüderlich geſellt,
Verlebten ſie des gleichen Lebens Tage.
Nie alternd blühte jene frühe Welt,
Sie ſtarben, wie dem Schlummer hingegeben,

So wie die reife Frucht vom Baume fällt.
Wo kein Gebot, war auch kein Widerſtreben:
Des alten Kronos väterlichen Thron
Schien Liebe nur zu gründen und zu heben.
Viel Zeiten waren wechſellos entflohn,
Und ach! ſie zählte niemand: da entflammte
Begier nach Thaten ſeinen kühnen Sohn.
Des Vaters Haupt vom ſtillen Herrſcheramte
Zu bannen rang, unruhig, das Geſchlecht,
Das mit dem Zeus aus Rhea's Schooſse ſtammte.
Doch die Titanen ſtehn für Kronos Recht.
So trennten ſich die himmliſchen Gewalten,
Und Weltverheerend tobte das Gefecht.
Das Licht erloſch, des Himmels Veſten hallten,
Die Erde wankt', als ob zum Tartarus

Hinab ein jäher Riſs ſie ſollte ſpalten.
Sonſt ruhig in ſich kreiſend, ſchwoll der Fluſs
Okeanos aus ſeines Bettes Tiefen,
Und brach herein mit brauſendem Erguſs.
Unendlich war ihr Kampf; vergebens riefen
Sie der Entſcheidung, Kraft an Kraft gebannt,
So lang, des Donnrers neue Blitze ſchliefen.
Kaum aber warf aus allgewalt'ger Hand
Zeus ſeine tauſend Sturmbeſchwingten Wetter,
Gekrach und Dampf und unauslöſchbarn Brand:
So ſtürzten die Titanen ohne Retter,
Betäubt, geblendet, in die öde Nacht,
Und Götter wurden Sieger über Götter.
Hoch thront nun im Olymp Kronions Macht,
Den Raub der Welt vertheilt er ſeinen Treuen,

Des bangen Erdenvolks wird nicht
gedacht.
Da des Verderbens Wolken ſich zerſtreuen,
Und, wer entronnen, aufwacht zum
Gefühl,
Erſtarrt ihr Blick auf grauſen Wüſteneyen.
Wo ſonſt des Lebens fröhliches Gewühl
Entzückend webte, wo, bethaut von
Düften,
Nur Liebe flüſterte, nur Scherz und Spiel:
Da lauert jetzt in düſtern Felſengrüften
Das Raubthier, einſam ſchallt des Hungers
Schrey
Verloren zwiſchen unwirthbaren Klüften.
Nichts blieb vom Fluche der Zerrüttung
frey;
Das Friedlichſte verwildert, blut'ge Sitte
Führt, ehern, das Geſetz der Noth herbey.
Die Furcht beherrſcht des Menſchen irre
Tritte.

Er ſchmachtet durſtig in des Sommers Glut,
Ihn ſchirmt vor Froſt kein Lager, keine Hütte.
Selbſt die Erinnrung vom entfloh'nen Gut
Erliegt des Elends laſtendem Gewichte,
Kein Hoffen weckt ihm den erſtorbnen Muth.
In ſich verdüſtert, tappt er auch im Lichte
Als ſäh' er nicht; hört, ohne zu verſtehn,
Gedankenlos wie wüſte Traumgeſichte.
Da ſtieg Prometheus von Olympos Höhn,
Schaut' auf den Sohn des Staubes, ſeufzt und ſagte:
Und ſollſt du ſo durch fremde Schuld vergehn?
Ich warnte die Titanen: doch wer fragte
Der Weisheit Rath? wer ſpottete nicht mein,
Als ich das Schickſal zu enthüllen wagte?

Der regen Vorſicht werd' es Macht verleihn,
Denn reifen müſſe die Geburt der Zeiten;
Sie könne nicht in ſtolzer Ruh gedeihn.
So wählt' ich, ungern zwar, für Zeus zu ſtreiten.
Nur meine Mutter rettet' ich und mich,
Und half den Fall des eignen Stamms bereiten.
Dich aber, Menſch! erheb' ich über dich.
Die goldne Kindheit darf nicht wiederkehren,
Die dir im weichen Schooſs der Luft verſtrich.
Drum lerne handeln, ſchaffen und entbehren!
Ob alles wider dich verſchworen ſcheint,
Soll innre Kraft doch ſiegend dich bewehren.
Allein wer hört? wer faſst mich? Wo erſcheint
Noch die Geſtalt in dieſem blöden Wilde,

Die Erd' und Himmel ſchön in ſich vereint?
Laſst ſehn denn, wie ich ſchaffend neu ſie bilde.
Der Mutterboden beut den Stoff mir ſchon,
Das Leben dann die himmliſchen Gefilde.
So ſpricht in ſich der Themis weiſer Sohn,
Und geht an's Werk mit ſinnender Geberde,
In reiner Flut erweichend reinen Thon.
Er formet ſorgſam, daſs die Bildung werde
Wie der Entwurf ſie fodert: ſchon erhebt
Der neue Menſch ſein Antliz von der Erde,
Voll leichter Kraft, die ſcheinbar ihn belebt,
Die Arme ſchwellt, die breite Bruſt ihm ründet,
Und gleichgewogen durch die Glieder ſtrebt.
Das edle Haupt, die feſte Stirn verkündet
Ein Weſen, wohl gefaſst auf Freud' und Leid,
Kühn, lebensfroh, und in ſich ſelbſt gegründet.

Der Bildner blickt mit ſtiller Gnügſamkeit
Auf dieſs Geſchöpf, aus ſeinem Geiſt entſprungen,
Worin ſein eignes Daſeyn ſich erneut.
Noch prüft er ernſt, ob jeder Theil gelungen,
Dann ſäumt er nicht. Es hatte jetzt die Nacht
Die Sternenhüll' um Land und Meer geſchwungen,
Kein ſterblich noch unſterblich Auge wacht:
Da wandelt ſchweigend auf des Aethers Pfaden
Der Japetid', auf ſchlauen Raub bedacht,
Hin zu des Oſts entlegenſten Geſtaden,
Wo Helios ambroſiſches Geſpann
An goldnen Krippen ſteht, vom Joch entladen.
Prometheus will, was ſeine Kunſt erſann,
Mit heil'gen Kräften paaren: dort nur glühet,

Was würdig ſein Gebild beſeelen kann,
Der Quell, dem alle Lebensfüll' entblühet.
Da ſchöpfet er, und trägt den Funken fort,
Der willig ihm auf ſeine Fackel ſprühet.
Er eilt zurück zu dem verlaſsnen Ort;
Doch als er naht, (kaum dämmerte der Morgen)
Erwartet zürnend ihn der Themis Wort.
Noch künftiges, noch fernes bleibt verborgen
Vor ihrem Sinn: durchſchaut vom Anbeginn
Hat ſie des Sohnes Thun mit wachen Sorgen.
Aus Delphos Grotten tritt ſie zu ihm hin,
Wo ſie der Brüder Fall noch ſtill betrauert;
Wo vor der heiligen Enthüllerin
Des Schickſals einſt das Herz der Menſchen ſchauert,
Bis Phöbos junge Kraft den Python ſchlägt,

Der in der Haine Graun verderbend lauert.
"Dämoniſcher!" ſo ſpricht ſie: "was erregt
Den frevlen Muth dir, dieſe Saat zu ſäen,
Die eine Welt Gefahren in ſich trägt?
Die That iſt nicht mehr dein, wann ſie geſchehen;
Sie ſtrömt die Zeiten durch: die Spindel rollt
Wie ſie der Nacht uralte Töchter drehen."
Wär' auch Mislingen aller Mühen Sold,
Erwiedert er: doch ſoll mich niemals reuen,
Was ich nach tiefem Forſchen feſt gewollt.
Kann Götter die Unſterblichkeit erfreuen,
Die fremd vorbeyſchleicht, die ſie, ewig todt,
Durch Thaten nie zum Eigenthum ſich weihen? —
Drauf Themis: "Sohn! der Zorn des Herrſchers droht

Dem, der mit Hohem Niedres will vermengen.
Du höhnſt der Ordnung trennendes Gebot.
Durch dieſe Glut erhitzt wird aus den Engen
Des kleinen Lebens, das ein Hauch zerſtört,
Dein Zögling ſtolz zum Götterloos ſich drängen." —
Nur ſelbſt ſich gnügen, wenn kein Gott ihn hört:
(Prometheus ſprachs) wer achtet ſeiner Leiden?
Sie zu bekämpfen werd' ihm nicht verwehrt.
Wie möchte Zeus dies arme Streben neiden?
Er thront allwaltend: ſchreckt ein Weſen ihn,
Das von der Gottheit Tod und Ohnmacht ſcheiden? —

"Wohl! kann der Menſch ſich dieſen nicht entziehn:
Vom Wunſch geſpornt, doch an den Staub gebunden,
Verzehrt er ſich in ſtreitendem Bemühn.
Des Thieres Angſt iſt mit dem Schmerz verſchwunden;
Was war und ſeyn wird, drückt den regen Geiſt.
So haſt du ihm nur neue Qual erfunden." —
Nein! die der dumpfen Thierheit ihn entreiſst,
Vorausſicht, wird ihm ihre Schweſter ſenden,
Die Hofnung, welche muthig dulden heiſst.
Das Schwerſte wird er, ſo geſtärkt, vollenden;
Wo der Nothwendigkeit ſein Will' erliegt,
Wird er ihn ordnend in ſein Innres wenden. —

"Und wenn er auch ein hohes Ziel erfiegt,
Bald wird er doch fein bittres Loos verklagen,
Dafs Will' und Kraft mit ihm in nichts verfliegt.
Wie Wellen fich am Klippenftrand zerfchlagen,
Mufs auf Gefchlecht Gefchlecht, in ftetem Kreis,
Die Bahn durchlaufen und dem Preif' entfagen." —
Das Gute ftirbt nicht: der befcheidne Fleifs,
Die tapfre That, fie bringen Frucht und laben;
Den Enkel fchattet das gepflanzte Reis.
Und immer reicher durch der Vorwelt Gaben
Beut Ein Gefchlecht dem andern froh die Hand,
Und paart im Wettlauf Greife, Männer, Knaben.

Die Stärke weicht dem ordnenden Verſtand.
Sich ſelbſt und alles wird der Menſch geſtalten,
Mit Anmuth zierend, was die Noth erfand.
Er heiſst den Grund verborgne Schätz' entfalten;
Er zähmt das Roſs; er weiſs auf offnem Meer
Mit Leinbeflügeltem Geſchirr zu walten.
Die Felshöh ſtarrt nicht unbeweglich mehr:
Leichtſchwebend, wie gelockt von Zauberklange,
Wölbt ſie, und fügt, und reiht ſich um ihn her.
Was unſichtbar in Red' und in Geſange
Dem Ohr vorbey wallt, ſtellt er bleibend dar,
Daſs fernen Zeiten es, ein Denkmahl, prange.
Ich nenne kleines; zahllos blüht die Schaar

Der Künſt' empor; von dieſem Sonnenfunken
Glüht einſt die Erd', ein lichter Weihaltar. —
"O Sohn! du biſt von Schöpferwahne trunken!
Wie wären ſonſt vor eitlem Gaukelſchein
Der Vorſicht Lehren deinem Geiſt entſunken?
Ja! Flamm' und Brand wird dieſer Funke ſeyn;
Die Sterblichen verderbend wird er wüthen,
Den Aether trüben und die Erd entweihn.
Kein Zügel kann den frechen Willen hüten;
Ihm fröhnt der Witz und jede Kunſt, und ſchafft
Daſs ungeheure Wünſch' im Herzen brüten.
Doch, was er auch weitgreifend an ſich rafft,
Nichts gnüget ihm; er jagt nach neuem Raube,

Weil im Beſitz die ſchnöde Luſt erſchlafft.
Und ſchlauvermeſsne, jedem Rechte taube
Gewalt ſpannt Völker in des Joches Schmach,
Ihr Fuſstritt beugt die Nacken tief zum Staube.
Die Zwietracht geht ihrRuhewürgend nach,
Und den Verein der Menſchen knüpft die Treue,
Die Eide bricht, ſo oft ſie Eide ſprach.
Dann ſchlieſst zu blut'gem Tanz ſich Reih' an Reihe;
Hellblinkend jauchzt der Erdentriſsne Stahl,
Das er dem Tode Hekatomben weihe.
Doch offnes Morden bringt nur kurze Qual:
Groll, ſchleichender Verrath und gift'ge Tücke
Trieft von den Bechern ſelbſt beym Brudermahl.

An's Licht 'gesandt vom nächtlichen Geschicke,
Entschleyert Nemesis ihr Angesicht,
Und misst die Greu'l mit richtend ernstem Blicke,
Und ruft zur furchtbarn, namenlosen Pflicht
Die ewig eingedenken Rächerinnen,
Um deren Stirn Gorgonenhaar sich flicht.
Die Schuld kann nirgends ihrem Netz entrinnen.
Blutathmend, Qualweissagend heult ihr Lied,
Durchwühlt die Adern und verwirrt die Sinnen." —
Mich schrecket nicht dein schauendes Gemüth,
O Mutter! Ob dein Mund nie Lügen redet,
Ich weiss dass auch, was du verschweigst, geschieht.
Wenn jedes Frevels sich der Mensch entblödet,

Bleibt das ihm Vollmacht doch zu höherm Heil,
Womit er oft unselig sich befehdet.
Blind eilt zum Ziel, ein abgeschnellter Pfeil,
Des Thieres Trieb; es irrt nur, wer da wählet:
Sich selbst zu lenken ist des Freyen Theil.
Erkenntniss wurzelt ihm, wo er gefehlet;
Steigt fest und fester aus der Täuschung Flut,
Und wird zur Weisheit, durch Entschluss gestählet.
Der Meister seines Innern lässt die Wuth
Der Lüste sich einander blind zerschellen,
Und Niedriges verschmäht, wer Grosses thut.
Wenn Maass und Heldenkraft sich so gesellen,
Wird die Gewalt entthront, das Recht gebeut,
Nur Liebe macht die freyen Herzen schwellen.

Sobald Gefahr dem ſchönen Bunde dräut,
Für alle jeder, und für jeden alle
Sind ſie, den Tod zu ſuchen, froh bereit;
Und unbezwungen bey des Tapfern Falle
Strebt ſeine Tugend ſelbſt bewuſst empor
Und lebt, vergöttert, in der Lieder Halle.
Nach Kämpfen geht der Friede mild hervor:
Zum Oelbaum grünt die Lanze, Schwerter pflügen,
Und ſichre Fülle wohnt bey offnem Thor.
Der Adler kann auch über Meere fliegen.
Iſt aus dem Chaos nicht durch Lieb' und Zwiſt
Die Ordnung aller Ding' emporgeſtiegen?
Vollendung ſtrahlt, die kein Gedank' ermiſst,
Erſt durch des Irrſals Nächte dieſem Weſen,
Das ſich zu ſchaffen nur geſchaffen iſt.
Zeus hat die Welt; dich hab' ich mir erleſen!
Du Werk und Abbild meiner Thatenluſt
Frey ſollſt du ſeyn: was zaudr' ich, dich zu löſe? —

"Noch halt! o halt, Prometheus! Meine Bruſt
Stöhnt ahndend unter den unnennbarn Plagen,
Womit du bald dein Wohlthun büſsen muſst.
Ergrimmt, daſs eines Tags Geſchöpfe wagen,
Titanen gleich, nur ſtolz auf ſich zu baun,
Wird dich des Donnrers Wort in Banden ſchlagen.
Mit Ketten, ehrnen Ringen, und den Klaun
Der Keil' und Nägel wird an öde Klippen
Der Erde Strand dich feſtgeſchmiedet ſchaun.
Da harreſt du, des Felſens ſchroffe Rippen
Dein Lager, aufrecht, unbeweglich, wach;
Dir labt kein Nektar die verdorrten Lippen.
Nie hörſt du deiner Menſchen kindlich Ach,
Kein Lebenstritt naht ſo verwaiſten Fernen,

Der Wiederhall nur ächzt dir einsam nach.
Die Sonnen ziehn, es zieht mit ihren Sternen
Die Nacht vorbey; eh deine Kunst dich löst,
Mag dir zu rauschen dort die See verlernen." —
Sinkt dieser dann, von meiner Gab' entblösst,
Zum Knecht zurück? wird sein der Blitz nicht schonen,
Wenn vom Olymp mein Bundsgenoss mich stösst? —
"Zeus kann die Bildnerey dir bitter lohnen,
Doch hemmen darf er nicht, was sie erzielt,
Denn selbst die Macht muss dem Verhängniss frohnen." —
So will ich dulden was die Noth befiehlt.
Ich bin unsterblich, und mein ew'ger Wille
Wird von der Qual, ein Berg vom Sturm, umspielt. —
"Weh mir, die ich dein Unheil dir enthülle!
Durch Riesentrotz, Titan', erwirbst du blos,

Dafs Zeus der Rache Maafs noch höher fülle.
Er läfst der Blitze Flammenwirbel los,
Das Meer und Aether durch einander braufen;
Hohldonnernd ftürzt die Felskluft in den Schoofs
Des dumpfen Hades dich: da wirft du haufen,
Bis Zeus dem Tageslicht zurück dich bringt,
Dir felbft zur Schmach, den Himmlifchen ein Grauſen.
Sein Flügelhund, der gier'ge Geyer, fpringt
Umfchattend auf die ftarr gebundnen Glieder,
Zerfleifcht die Bruft dir; was er Tags verfchlingt
Erwächft der blut'gen Leber nächtlich wieder;
Lautfchwirrend kommt der ungerufne Gaft,

Schwebt langſam fort mit triefendem
Gefieder." —
Nichts fremdes übt, wer ſeinen Haſſer haſst:
Kronion aber herrſcht, der Ungerechte,
Durch meine Hülf im himmliſchen Palaſt.
Nun hält der Tartarus die alten Mächte,
Und feig gehorcht der jungen Götter
Schaar.
Wo iſt ein Starker, der mich retten möchte?
Dir legt die Zukunft ihr Geheimniſs dar,
O meiner Mutter heil'ges Haupt! ich flehe
Beym Styx dich an: mach mir ſie offenbar!
Ob nie ein Ringer für das Recht erſtehe
Aus ſterblichem und göttlichem Ge-
ſchlecht,
Der Götterkraft zum Heldenthum erhöhe?
Wenn der, vom Mühſal ewig ungeſchwächt,
Gefahren ſucht, und tilget Ungeheuer,
Und Räuber zähmt und Unterdrückte
rächt:

Dann treibt ihn auch des freyen Muthes
Feuer,
Das ich verlieh, in Wüſten ohne Pfad;
Er kommt, zerreiſst die Bande, würgt
den Geyer.
Ja er vollbringts, und zürnte ſeiner That
Der Donnrer auch, und hätt' ihn der
gezeuget,
Der mit der Herrſchaft Fuſs mich nie-
dertrat. —
Der Japetide riefs, doch Themis ſchweiget.
Wie Gram und Zweifel ihr im Buſen
ſchwoll,
Hat ſie die Stirn verſchleyert abgeneiget.
Sie weiſs, daſs einſt der Tag erſcheinen ſoll,
Wo ihrem Sohn Herakles heil'ge Stärke
Mit Rettung nahet, gleicher Gottheit voll.
Auf daſs er mehr auf ihre Warnung merke,
Verſchwieg ſie, was ſein weiſer Sinn
erſpäht;

Was ſchreckt ihn nun bey dem verwegnen Werke?
Er kehrt zum Bilde ſich, das vor ihm ſteht,
Und ſpricht: Geh! wirke! trage Leid und Wonne!
Der Funke blitzt und Lebensodem weht,
Der freye Menſch blickt zur verwandten Sonne.

A. W. Schlegel.

## Der Adler Jupiters.

*Nach Martial.*

Sage mir, König der Vögel, wen trägt dein Fittig? — den Donnrer.
Warum rüſten nicht heut Blitze die Hand ihm? — Er liebt.
Wer entflammte den Gott? — Ein Knabe — Was blickſt du mit ofnem
Munde ſo freundlich nach Zeus? — Von Ganymed wird gekoſt.

Conz.

## Die Liebe auf dem Lande.

Ein wohlgenährter Kandidat
Der nie noch einen Fehltritt that,
Und den verbotnen Liebestrieb
In lauter Predigten verſchrieb,
Kehrt einſt bey einem Pfarrer ein,
Den Sontag ſein Gehülf zu ſeyn.
Der hatt' ein Kind, zwar ſtill und bleich
Von Kummer krank, doch Engeln gleich
Sie hielt im halberloſchnen Blick
Noch Flammen ohne Maaſs zurück,
All itzt in Andacht eingehüllt,
Schön wie ein marmorn Heiligenbild.
War nicht umſonſt ſo ſtill und ſchwach,
Verlaſsne Liebe trug ſie nach.
In ihrer kleinen Kammer hoch
Sie ſtets an der Erinnrung ſog
An ihrem Brotſchrank an der Wand

Er immer, immer vor ihr ſtand,
Und wenn ein Schlaf ſie übernahm
Im Traum er immer wieder kam.
Für ihn ſie noch ihr Härlein ſtutzt,
Sich, wenn ſie ganz allein iſt, putzt.
All ihre Schürzen anprobirt
Und ihre ſchönen Lätzchen ſchnürt,
Und von dem Spiegel nur allein
Verlangt er ſoll ein Schmeichler ſeyn.
Kam aber etwas Fremds ins Haus
So zog ſie gleich den Schnürleib aus,
That ſich ſo ſchlecht und häuslich an,
Es überſah ſie jedermann.
Zum Unglück unſerm Pfaffen allein
Der Lilie Nachtglanz leuchtet ein,
Obſchon ſie matt am Stengel hieng.
Früh eh er in die Kirche gieng
Er ſehr eräſchert zu ihr trat
Und ſie — um ein Glas Waſſer bat —
Denn laut er auf der Kanzel ſchreit

Man hört ihn auf dem Kirchhof weit
Und macht ſolch einen derben Schluſs
Daſs alt und jung noch weinen muſs,
Und der Gemeinde Sympathie
Ergriff zu allerletzt auch ſie —
's ging jeder wie gegeiſselt fort —
Der Kandidat ward Pfarr am Ort.

Obs nun die Dankbarkeit ihm that,
Ein's Tag's er in ihr Zimmer trat,
Sehr holde Jungfrau, ſagt er ihr,
Ihr ſchickt euch übel nicht zu mir,
Ihr ſeyd voll Tugend und Verſtand,
Ihr habt mein Herz, da nehmt die Hand —
Sie ſehr erſchrocken auf den Tod
Ward endlich einmal wieder roth,
"Ach lieber Herr — — mein Vater — ich —
Ihr findet beſſere als mich
Ich bin zu jung — ich bin zu alt —"
Der Vater kroch hinzu und ſchalt,

Und kündigt Stund und Tag und Mann
Ihr mit gefaltnen Händen an.
Wer mahlet diesen Calchas mir
Und dieses Opfers Blumenzier,
Wie's vorm Altar am Hochzeittag
In seiner Mutter Brautkleid lag,
Wie's unters Vaters Seegenshand
Mehr litt als es sich selbst gestand;
Wie's dumpf, nur ahndend seine Pflicht
Entzog den Quaalen sein Gesicht,
Und tausend Nattern in der Brust
Zum Dienste ging verhaßter Lust.

Ach Männer, Männer seyd nicht stolz
Als wär't nur ihr das grüne Holz,
Der Weiber Güt' und Duldsamkeit
Ist grenzenlos wie Ewigkeit.
Sie fand an ihrem Manne nun
All seinem Reden, seinem Thun
An seiner plumpen Narrheit gar

Noch was das liebenswürdig war
Sie dreht und rieb ſo lang dran ab,
Bis ſie ihm doch ein Anſehn gab,
Und wenn's ihr unerträglich kam
Nahm ſie's als Zucht — für ihren Gram.

Ihr einzig Gut auf dieſer Welt
Der Engel noch für Sünde hält.
Dem Mann gelind, ſich ſelber ſcharf
Sie — Gott — nicht einmal weinen darf,
Sie kommt und bringt ihr Auge klar
Als ſein geraubtes Gut ihm dar,
Und wenn er ſchilt und brummt und knirrt
Ihr leichter um das Herze wird,
Doch wenn er freundlich herzt und küſst
Für Unruh ſie des Todes iſt.

Denn immer, immer, immer doch
Schwebt ihr das Bild an Wänden noch,
Von einem Menſchen, welcher kam

Und ihr als Kind das Herze nahm.
Faſt ausgelöſcht iſt ſein Geſicht,
Doch ſeiner Worte Kraft noch nicht
Und jener Stunden Seligkeit
Ach jener Träume Würklichkeit
Die, angeboren jedermann,
Kein Menſch ſich würklich machen kann.

Lenz.

## Wunſch.

Thränen beneid ich der Jugend; es duften die Blüthen der Liebe
Wie nach dem Regen im May ſüſser und ſchöner durch ſie,
Aber im einſamen Herbſt, an des Lebens kaltem Geſtade,
Wärme der Sonnenſtrahl heiterer Freude mein Herz.

R.

## Der verlorne Maitag.

Aus dem Reich der ſchönen Thetis,
Aus der blauen Fluthen Bette
Steigt der goldgelockte Phöbus,
Um an ihrem ſchönſten Feſte
Mild die Erde zu beleuchten.
Stolzer heftet er die Spangen
Seines weiten Strahlenmantels
Auf der hohen Bruſt zuſammen.
Lächelnd ziehen jezt die Nymphen
An des Wagens goldne Deichſel
Jene ſtolzen Sonnenroſſe,
Die den eitlen Sohn des Gottes
In ein frühes Grab geſchleudert,
Aber ohne Sträuben folgen
Sie dem wohlgewohnten Rufe,
Und die Nymphen werfen ſcherzend
Ueber ſie die Purpurzügel.

Leis eröfnet jetzt Aurora
Ihre Kammer, wo ſie einſam
Ueber Titons graue Haare,
Ueber ihren Wunſch getrauert,
Da mit unvorſicht'ger Liebe
Sie des Vielgeliebten Leben
Nur zu ſeiner Qual verlängert,
Ach! des freudenloſen Alters
Muſs er ſich unſterblich grämen!
Sie entfaltet dort im Oſten
Ihren ſaffrangelben Schleyer;
Heſper, den ſie bald verdunkelt,
Leuchtet mit der Silberfackel
Noch durch graue Morgenwolken —
Aber jetzo nahet Phöbus —
Von des Gottes Antlitz ſtrahlet
Ew'ges Licht und ew'ge Klarheit;
Seine Flammenroſſe ſchimmern,
Reine Feuerfunken ſprühen
Aus des goldnen Wagens Rädern;

Es entfliehen Nacht und Schrecken
In den dunkeln Schoos des Orkus.
Von dem lieblichbunten Kreiſe
Junger Horen rings umſcherzet,
Steiget Phöbus in die Lüfte.

Aber plötzlich hüllt Aurorens
Schönen Schleyer grau Gewölke,
Löſcht des kleinen Heſpers Fackel,
Wälzt ſich immer dicht und dichter
Unter Phöbus ſtolze Roſſe,
Die voll Trotz die Flammenhufe
In die feuchten Wolken ſchlagen.
Wie in weiter Landesebne,
Die das Roſs vom Sporn getrieben
Leicht durchfliegt, [der Hufe Spuren
Füllt der gelbe Sand von ſelber;]
Höher als der ſchnelle Reiter,
Staubeswolken anfwärts ſteigen,
Daſs der ferne Wandrer wähnet,

In den langerhobnen Wirbel
Sey ein grofser Trofs gehüllet,
So umwallt die Sonnenroſſe
Graues neblichtes Gewölke;
Von den Flammenmähnen ſchütteln
Sie mit Iris bunten Farben
Tauſend zarte Regentropfen,
Daſs der Horen ſeidne Flechten,
Daſs die goldnen Ringellocken,
Sonſt ein Spiel der Morgenwinde
Jezt von kaltem Thaue träufelnd
Um die weiſsen Nacken ſinken,
Daſs die flatternden Gewänder
Dichter ſich in feuchten Falten
An die ſchlanken Hüften ſchmiegen,
"Phöbus! ruft der Kreis der Mädchen,
Wende dein Geſpann, es netzet
Dieſer dicke Duft der Erde
Uns die Schläfe,' uns die Sohlen. —
Doch mit ſanftem Ernſt verſetzet

Jezt der ſchöne Gott des Tages:
Folget immer, holde Stunden,
Sanft euch faſſend, meinem Wagen;
Denn der Vater will es alſo,
Daſs ich heute ungeſehen
Ueber dieſem Thale ſchwebe,
Die verkehrten Menſchen ſtrafend —
Die auf ſchimmernden Altären
Eiteln thörichten Gebräuchen
Ihre ſchönſten Freuden opfern.
Statt an meinem heitern Strahle
Ihr erkaltet Hérz zu wärmen,
An Aurorens ſchönem Schleyer
Sich im Frühlingshayn zu freuen,
Feſſeln ſie mit goldnen Ketten
An des feilen Plutus Wagen
Heute ihre Sclavennacken.
Statt im ſchön gewölbten Tempel
Jenes feyerlichen Haynes
Heut auf grünenden Altären

Freudenopfer darzubringen,
Auf des muntern Wa'dorcheſters
Feyerhymnen froh zu horchen,
Zählen in geſchmückten Zimmern,
Geldgier in den ſtieren Blicken
Aengſtlich ſie gemahlte Blätter,
Und entzweyen ſich um Pappe!
Unglückſeliges Geſchlecht!
Selbſt in Tempe's Fluren elend.
An Hiſſus Veilgen Ufern,
Würdet ihr nach Karten greifen! —

Doch wer wandelt wohl dort unten,
Stürmen trotzend und dem Regen?
Zwiſchen feuchtem Mooſse pflücket
Er bedächtlich jezt Violen,
Wie die Mädchen ſie den Wieſen
Nur an ſchönen Morgen rauben;
Zart die ſchweren Regentropfen
Aus den kleinen Kelchen ſchüttelnd,

Trillert ruhig er ein Liedchen —
Ha! — Jezt kenn' ich ihn, ein Liebling
Iſt er jener holden Neune,
Der ſich meinem Heiligthume
Oft beſcheiden flehend nahte,
Den ich nicht zurück gewieſen. —
Für die Freundin, die er ehret,
Die indeſs das Thal durchwandelt,
Sinnender dies Feſt begehend,
Pflückt er auf der Höh' die Blumen.
Ihm, der die Natur verehret,
Und die Gaben holder Muſen;
Ihm, der ſchon auf meinem Altar
Süſse Erſtlinge geopfert,
Soll der ſteile Pfad des Ruhmes,
Als ein Blumenweg erſcheinen,
Wo er lächelnd Freuden pflücket;
Und am Ziele ſoll der Lorbeer,
Aus der Muſen heilgen Händen
Ihm die heitre Stirne krönen."

F.

## Sonett.

Froh und ruhig lebt' ich und Amande,
Unſern Freuden wohnte Amor bey.
Frohſinn knüpfte bald der Eintracht Bande,
Flatterſinn riſs dieſes Band entzwey.

Ich bewies mir ſelbſt, daſs Knechtſchaft Schande
Und die Freyheit groſs und göttlich ſey.
Launigt trotz' ich, lächelnd floh Amande,
Und ich weinte, denn ich wurde frey.

Einſam ging im Schatten junger Flieder
Einſt Amande, wo ich weinend lag,
Und ſie nickte freundlich: Guten Tag!

Ich ſah auf, Sie ſah zur Erde nieder,
Schüchtern naht' ich, liebte, küſste wieder —
Werde frey, wer elend werden mag!

V. Steigentesch.

# Die Braut von Corinth.

*Romanze.*

Nach Corinthus von Athen gezogen
Kam ein Jüngling, dort noch unbekannt,
Einen Bürger hofft er ſich gewogen,
Beyde Väter waren gaſtverwandt,
Hatten frühe ſchon
Töchterchen und Sohn
Braut und Bräutigam, in Ernſt, genannt.

Aber wird er auch willkommen ſcheinen
Wenn er theuer nicht die Gunſt erkauft?
Er iſt noch ein Heide mit den Seinen,
Und ſie ſind ſchon Chriſten und getauft.
Keimt ein Glaube neu,
Wird oft Lieb und Treu
Wie ein böſes Unkraut ausgerauft.

Und ſchon lag das ganze Haus im ſtillen,
Vater, Töchter, nur die Mutter wacht,
Sie empfängt den Gaſt mit beſtem Willen
Gleich ins Prunkgemach wird er gebracht
Wein und Eſſen prangt
Eh er es verlangt,
So verſorgend wünſcht ſie gute Nacht.

Aber bey dem wohlbeſtellten Eſſen
Wird die Luſt der Speiſe nicht erregt,
Müdigkeit läſst Speiſ' und Trank vergeſſen,
Daſs er angekleidet ſich aufs Bette legt,
Und er ſchlummert faſt,
Als ein ſeltner Gaſt
Sich zur offnen Thür hereinbewegt.

Denn er ſieht, bey ſeiner Lampe Schimmer
Tritt mit weiſsem Schleyer und Gewand,
Sittſam ſtill ein Mädchen in das Zimmer
Um die Stirn ein ſchwarz und goldnes Band.

Wie ſie ihn erblickt,
Hebt ſie, die erſchrickt,
Mit Erſtaunen eine weiſse Hand.

Bin ich, rief ſie aus, ſo fremd im Hauſe
Daſs ich von dem Gaſte nicht vernahm?
Ach! ſo hält man mich in meiner Klauſe!
Und nun überfällt mich hier die Schaam.
Ruhe nur ſo fort,
Auf dem Lager dort
Und ich gehe ſchnell ſo wie ich kam.

Bleibe ſchönes Mädchen! ruft der Knabe,
Raſft von ſeinem Lager ſich geſchwind,
Hier iſt Ceres, hier iſt Bacchus Gabe
Und du bringſt den Amor liebes Kind.
Biſt für Schrecken blaſs,
Liebe komm und laſs
Laſs uns ſehn, wie froh die Götter ſind.

Ferne bleib, o Jüngling! bleibe ſtehen,
Ich gehöre nicht den Freuden an
Schon der letzte Schritt iſt, ach! geſchehen,
Durch der guten Mutter kranken Wahn,
Die geneſend ſchwur:
Jugend und Natur
Sey dem Himmel künftig unterthan.

Und der alten Götter bunt Gewimmel
Hat ſogleich das ſtille Haus geleert,
Unſichtbar wird einer nur im Himmel,
Und ein Heiland wird am Kreutz verehrt,
Opfer fallen hier,
Weder Lamm noch Stier,
Aber Menſchenopfer unerhört.

Und er fragt und wäget alle Worte,
Deren keines ſeinem Geiſt entgeht,
Iſt es möglich? daſs am ſtillen Orte
Die geliebte Braut hier vor mir ſteht!

Sey die meine nur!
Unſrer Väter Schwur
Hat vom Himmel Segen uns erfleht.

Mich erhältſt du nicht, du gute Seele,
Meiner zweyten Schweſter gönnt man dich,
Wenn ich mich in ſtiller Klauſe quäle,
Ach! in ihren Armen denk an mich,
Die an dich nur denkt,
Die ſich liebend kränkt,
In die Erde bald verbirgt ſie ſich.

Nein! bey dieſer Flamme ſeys geſchworen,
Gütig zeigt ſie Hymen uns voraus,
Biſt der Freude nicht und mir verlohren,
Kommſt mit mir in meines Vaters Haus.
Liebchen bleibe hier,
Feyre gleich mit mir
Unerwartet unſern Hochzeitſchmaus.

Und ſchon wechſeln ſie der Treue
Zeichen,
Golden reicht ſie ihm die Kette dar,
Und er will ihr eine Schale reichen,
Silbern, künſtlich wie nicht eine war.
Die iſt nicht für mich,
Doch ich bitte dich
Eine Locke gieb von deinem Haar.

Eben ſchlug die dumpfe Geiſterſtunde
Und nun ſchien es ihr erſt wohl zu ſeyn.
Gierig ſchlürfte ſie mit blaſſem Munde
Nun den dunkel blutgefärbten Wein,
Doch vom Waizenbrot
Was er freundlich bot,
Nahm ſie nicht den kleinſten Biſſen ein.

Und dem Jüngling reichte ſie die Schale,
Der wie ſie nun haſtig lüſtern trank,
Liebe fordert er beym ſtillen Mahle,
Ach! ſein armes Herz war Liebekrank,

Doch ſie widerſteht,
Wie er immer fleht,
Bis er weinend auf das Bette ſank.

Und ſie kommt und wirft ſich zu ihm nieder:
Ach! wie ungern ſeh ich dich gequält!
Aber ach! berührſt du meine Glieder,
Fühlſt du ſchaudernd was ich dir verheelt.
Wie der Schnee ſo weiſs,
Aber kalt wie Eis
Iſt das Liebchen, das du dir erwählt.

Heftig faſst er ſie mit ſtarken Armen
Von der Liebe Jugendkraft durchmannt:
Hoffe doch bey mir noch zu erwarmen
Wärſt du ſelbſt mir aus dem Grab geſandt!
Wechſelhauch und Kuſs!
Liebesüberfluſs!
Brennſt du nicht und fühleſt mich entbrannt?

Liebe ſchlieſset feſter ſie zuſammen,
Thränen miſchen ſich in ihre Luſt,
Gierig ſaugt ſie ſeines Mundes Flammen
Eins iſt nur im andern ſich bewuſst;
Seine Liebeswuth
Wärmt ihr ſtarres Blut,
Doch es ſchlägt kein Herz in ihrer Bruſt.

Unterdeſſen ſchleichet auf dem Gange
Häuslich ſpät die Mutter noch vorbey,
Horchet an der Thür und horchet lange,
Welch ein ſonderbarer Ton es ſey?
Klag und Wonne Laut,
Bräutigams und Braut,
Und des Liebeſtammelns Raſerey.

Unbeweglich bleibt ſie an der Thüre
Weil ſie erſt ſich überzeugen muſs,
Und ſie hört die höchſten Liebesſchwüre
Lieb und Schmeichelworte mit Verdruſs —

Still der Hahn erwacht
Aber Morgennacht
Bist du wieder da? — und Kuſs auf Kuſs.

Länger hält die Mutter nicht das Zürnen
Oefnet das bekannte Schloſs geſchwind —
Giebt es hier im Hauſe ſolche Dirnen
Die dem Fremden gleich zu Willen ſind? —
So zur Thür hinein!
Bey der Lampe Schein
Sieht ſie, Gott! ſie ſieht ihr eigen Kind.

Und der Jüngling will im erſten Schrecken
Mit des Mädchens eignem Schleyerflor,
Mit dem Teppich die Geliebte decken,
Doch ſie windet gleich ſich ſelbſt hervor;
Wie mit Geiſts Gewalt
Hebet die Geſtalt,
Lang und langſam ſich im Bett' empor.

Mut-

Mutter! Mutter! ſpricht ſie hohle Worte,
So miſsgönnt ihr mir die ſchöne Nacht!
Ihr vertreibt mich von dem warmen Orte,
Bin ich zur Verzweiflung nur erwacht?
Iſts euch nicht genug;
Daſs ins Leichentuch
Daſs ihr früh mich in das Grab gebracht?

Aber aus der ſchwerbedeckten Enge
Treibet mich ein eigenes Gericht,
Eurer Prieſter ſummende Geſänge,
Und ihr Segen haben kein Gewicht;
Salz und Waſſer kühlt
Nicht wo Jugend fühlt,
Ach die Erde kühlt die Liebe nicht.

Dieſer Jüngling war mir erſt verſprochen,
Als noch Venus heitrer Tempel ſtand.

Mutter habt ihr doch das Wort gebrochen
Weil ein fremd, ein falſch Gelübd euch band!
Doch kein Gott erhört,
Wenn die Mutter ſchwört
Zu verſagen ihrer Tochter Hand.

Aus dem Grabe werd ich ausgetrieben,
Noch zu ſuchen das vermiſste Gut,
Noch den ſchon verlohrnen Mann zu lieben,
Und zu ſaugen ſeines Herzens Blut.
Iſts um den geſchehn,
Muſs nach andern gehn
Und das junge Volk erliegt der Wuth.

Schöner Jüngling, kannſt nicht länger leben,
Du verſiechſt nun an dieſem Ort,
Meine Kette hab ich dir gegeben,
Deine Locke nehm ich mit mir fort.
Sieh ſie an genau,
Morgen biſt du grau,
Und nur braun erſcheinſt du wieder dort.

Höre Mutter nun die letzte Bitte:
Einen Scheiterhaufen ſchichte du,
Oefne meine bange kleine Hütte,
Bring in Flammen Liebende zur Ruh.
Wenn der Funke ſprüht,
Wenn die Aſche glüht,
Eilen wir den alten Göttern zu.

GOETHE.

## Schlimm und Schlimmer.

Fliehe den Mann, der mit ſchiefem Verſtand der Empfindungen ſpottet,
Mehr noch ein witziges Weib, das mit Empfindungen ſpielt.

R.

# Lindor und Mirtha.

*Mirtha.*

Lindor, es ſinket der Tag, verglimmend in heimlichem Schimmer,
Und dem Verſcheidenden tönt, nirgends ein freundliches Lied,
Sieh' wie ein neblichtes Meer umwallet die fernen Gebirge,
Sieh, wie im traurigen Duft dort die Ruine verſinkt!

*Lindor.*

Welch' ein liebliches Licht! Komm laſs uns den Gipfel erſteigen,
Wie um das graue Geſtein ſpielet der roſige Duft!
Ha! wie erquickt mich die Luft! Geliebte, es wanken die Berge

Leicht von Nebel umwallt, oben in
Feuer getaucht!

*Mirtha.*

Wie iſt die Reb' entſtellt, der goldnen
Trauben entladen,
Wie ihr welkendes Laub traurig den
Fuſs mir umrauſcht!
Und das ſtille Gehölz, wie ſäuſeln im
Winde die Blätter
Sterbend hernieder, wo oft Amor mit
uns ſich verbarg.

*Lindor.*

Weihte, du Liebe, ſich nicht der Rebe
reifende Kinder
Bacchus der freundliche Gott, gab uns
den himmliſchen Saft?
Und der gefällige Buſch — es küſſen die
ſchmeichelnden Lüftchen
Wie mit dem Kreiſel das Kind ſpie-
lend, das Laub ihm hinweg.

*Mirtha.*

Sieh, wie weit ſie hinweg den Schmuck des armen entführen,
Scheidend noch ſchmeicheln und dann ewig den traurigen fliehn!
Ach! es wehet die Luft mit ſtiller tiefer Bedeutung,
Wehet und locket ins Herz manches wehmüthige Bild.

*Lindor.*

Liebchen! es kehret der Lenz, es kehren die ſchmeichelnden Lüfte
Einſt mit ſüſſerem Kuſs, zu den Dryaden zurück,
Mich umwallet die Luft mit leichter, ſchmeichelnder Hofnung
Wehet und lockt mir ins Herz manches erfreuliche Bild.

*Mirtha.*

Ach! dafs Alles vergeht! die Blumen und Jugend und Liebe,
Nur die Sehnsucht der Bruft nach Unvergänglichem bleibt!
Geifter auch trennet die Zeit, verwandte Seelen — fie finden,
Waren fie einmal getrennt, leicht fich auf ewig nicht mehr!

*Lindor.*

Iſt denn der Wechſel nicht ſchön? es finden auch Seelen ſich wieder,
Eint ſie nicht oft ein Moment, welcher den Himmel umſchlieſst?
Ha! wie ſtrahlet die Welt voll heitrer, freundlicher Bilder,
Ueberall winkt uns Genufs, überall Jugend und Glück!

*Mirtha.*

Laſs mich, ich neide dich nicht! mit ſüſsen, unendlichen Qualen
Hält mein liebender Sinn ewig das Eine nur feſt!
Hin auf die Bühne der Welt zerſtreue die Seele voll Liebe,
Während mein liebendes Herz innigſt die Welt in ſich zieht.

SOPHIE MEREAU.

## Pſyche.

Pſyche! Wer löſ't das erhabene Räthſel von deiner Beſtimmung?
Hier und im ganzen Olymp Amor der freundliche nur.

R.

# Ritter Toggenburg.

*Ballade.*

"Ritter, treue Schweſterliebe
"Widmet euch dieſs Herz,
"Fodert keine andre Liebe,
"Denn es macht mir Schmerz.
"Ruhig mag ich euch erſcheinen,
"Ruhig gehen ſehn.
"Eurer Augen ſtilles Weinen
"Kann ich nicht verſtehn."

Und er hörts mit ſtummem Harme,
Reiſst ſich blutend los,
Preſst ſie heftig in die Arme,
Schwingt ſich auf ſein Roſs,
Schickt zu ſeinen Mannen allen
In dem Lande Schweitz,

Nach dem heilgen Grab ſie wallen,
Auf der Bruſt das Kreutz.

Groſse Thaten dort geſchehen
Durch der Helden Arm,
Ihres Helmes Büſche wehen
In der Feinde Schwarm,
Und des Toggenburgers Nahme
Schreckt den Muſelmann,
Doch das Herz von ſeinem Grame
Nicht geneſen kann.

Und ein Jahr hat ers getragen,
Trägts nicht länger mehr,
Ruhe kann er nicht erjagen,
Und verläſst das Heer,
Sieht ein Schiff an Joppe's Strande,
Das die Segel bläht,
Schiffet heim zum theuren Lande,
Wo ihr Athem weht.

Und an ihres Schloſſes Pforte
Klopft der Pilger an,
Ach! und mit dem Donnerworte
Wird ſie aufgethan:
"Die ihr ſuchet, trägt den Schleier,
"Iſt des Himmels Braut,
"Geſtern war des Tages Feyer
"Der ſie Gott getraut."

Da verläſſet er auf immer
Seiner Väter Schloſs,
Seine Waffen ſieht er nimmer,
Noch ſein treues Roſs,
Von der Toggenburg hernieder
Steigt er unbekannt,
Denn es deckt die edeln Glieder
Härenes Gewand.

Und erbaut ſich eine Hütte
Jener Gegend nah

Wo das Kloſter aus der Mitte
Düſtrer Linden ſah;
Harrend von des Morgens Lichte
Bis zu Abends Schein,
Stille Hofnung im Geſichte,
Saſs er da allein.

Blickte nach dem Kloſter drüben
Blickte Stundenlang,
Nach dem Fenſter ſeiner Lieben,
Bis das Fenſter klang,
Bis die Liebliche ſich zeigte,
Bis das theure Bild
Sich ins Thal herunterneigte,
Ruhig, engelmild.

Und dann legt er froh ſich nieder;
Schlief getröſtet ein,
Still ſich freuend, wenn es wieder
Morgen würde ſeyn.

Und ſo ſaſs er viele Tage
Saſs viel Jahre lang,
Harrend ohne Schmerz und Klage
Bis das Fenſter klang,

Bis die Liebliche ſich zeigte,
Bis das theure Bild
Sich ins Thal herunter neigte,
Ruhig, engelmild.
Und ſo ſaſs er, eine Leiche,
Eines Morgens da,
Nach dem Fenſter noch das bleiche
Stille Antlitz ſah.

SCHILLER.

# Die Dioskuren

*aus Pindars zehnter Nemeiſcher Ode.*

Wechſelnd in wechſelnder Folge wohnen
einen Tag ſie bey dem geliebten
Vater Zeus; aber den andern
in den Tiefen der Erde, den Klüften
Therapne's,
einerley Schickſal erfüllend. Denn
dieſes Leben, lieber als ganz
ein Gott ſeyn, und den Himmel bewohnen,
wählte einſt Polydeukes, da Kaſtor
geſunken war in der Schlacht.
Ihn hatte Idas, zürnend über die Rinder,
durchbohrt mit der Spitze der ehernen
Lanze.

Vom Taygetos ſchauend, ſah ihn
ſitzen auf dem Stamme der Eiche

Lynkeus; denn ihm war
unter den Irrdiſchen allen das ſchärfſte
Auge. Mit leichten Füſsen ereilten ſie
bald ihn, und vollbrachten raſch da das
groſse Werk.
Aber Furchtbares litten wieder
von Zeus Händen die Apharetiden.
Denn plötzlich kam, ſie verfolgend
der Sohn der Leda. Sie aber ſtanden
ihm entgegen, nahe dem Grabmal des Vaters.

Hier wegreiſsend Aedes
Schmuck, den geglätteten Stein,
warfen ſie ihn auf die Bruſt
Polydeukes; doch ſie zerſchmetterten
nicht ihn, drängten ihn nicht zurück.
Losſtürmend trieb mit dem ſchnellen
Wurfſpieſs
er in Lynkeus Seite das Erz.

Aber gegen Idas ſchleuderte Zeus
den feurigen, dampfenden Donnerkeil.
Einſam verbrannten ſie da zugleich.
Schwer iſt der Zwiſt den Sterblichen
mit dem Stärkeren zu beginnen.

Schnell nun kehrte der Tyndaride
zu der Kraft des Bruders zurück.
Noch nicht geſtorben, aber röchelnd
in des Odems Beraubung fand er ihn.
Seufzend, heiſse Thränen vergieſsend,
rief er laut: "Vater Kronion,
"wo iſt ein Ziel dieſer Trauer?
"Gieb mir zugleich mit dieſem den Tod,
o Herrſcher!
"Denn es ſchwindet des Mannes Ruhm,
wenn er
"der Freunde beraubt iſt. Wenige nur
"der Sterblichen ſind treu in der Gefahr.

"mit zu theilen die Arbeit."
Alſo ſprach er; aber Zeus kam ihm entgegen,
und ſagte die Worte: "Du biſt
"mein Sohn. Dieſen pflanzte nachher
"einen ſterblichen Saamen — der Held, deiner Mutter
"als Gatte ſich nahend. Dennoch, wohlan!
"geb' ich dir hievon die Wahl.
"Wenn du, entfliehend dem Tode,
"und dem verhaſsten Alter,
"willſt den Olympos bewohnen, mit mir
"und Athenen und dem ſchwarzgepanzerten Ares,

"ſo iſt dieſs Loos Dir beſchieden.
"Aber willſt du für den Bruder
"ſtreiten; gedenkſt du von allem
"mit ihm nur das Gleiche zu theilen,
"ſo magſt du die Hälfte leben, unter der Erde

"weilend, aber die andre
"in des Himmels goldenen Wohnungen."
Als der Gott alſo geſprochen, da theilte
nicht mehr zwiefacher Rathſchluſs Polydeukes Seele;
eilend löſte er wieder
die Augen, dann die Stimme
des erzbehelmeten Kastors.

Wilh. v. Humboldt.

## Das Herz.

Manches Geheimniſs der groſsen Natur
enträthſelt der Weiſe,
Ohne die Liebe jedoch nimmer ſein
eigenes Herz

R.

# Elegie

## an Emma.

Weit in nebelgrauer Ferne
Liegt mir das vergangne Glück,
Nur an Einem ſchönen Sterne
Weilt mit Liebe noch der Blick.
Aber wie des Sternes Pracht
Iſt es nur ein Schein der Nacht.

Deckte dir der lange Schlummer,
Dir der Tod die Augen zu,
Dich befäſse doch mein Kummer,
Meinem Herzen lebteſt du.
Aber ach! du lebſt im Licht,
Meiner Liebe lebſt du nicht.

Kann der Liebe ſüſs Verlangen
Emma, kanns vergänglich ſeyn?
Was dahin iſt und vergangen,
Emma, kanns die Liebe ſeyn?
Ob der Liebe Luſt auch flieht,
Ihre Pein doch nie verglüht.

S.

## Die Leier des Herzens.

Ueber das menſchliche Herz ſind liebliche Saiten gezogen,
Freude beweget ſie leicht, ſanfter ein zärtlicher Gram;
Heilige Lieb' erſchüttert zugleich die ſämtchen Saiten
Aber die zarteſten ſprengt oft auch das ſtürmende Spiel.

R.

## Abendphantasie.

Die Phantaſie, des Himmels ſchönſtes Kind,
Kommt auf Gewölk von Roſen hergezogen;
Der Abendſonne Zauberdüfte ſind
Schon vor ihr her den Bergen angeflogen:

Romantiſch liegt vor mir das kleine Thal,
Vom nahen Wall der Hügel ſtill begränzet,
Um die erſterbend ſchon der letzte Strahl
Der Sonn' im Kampfe mit den Schatten glänzet;

Die fallen jetzt hernieder in das Land;
Das Schauſpiel dort der Ferne tritt zurücke;
Die Welt verengt an dichter Nebelwand
Allmählich ſich des Spähers irrem Blicke.

Ein Schweigen, wie der Ruhe Schweigen,
zieht

Sich rings umher durchs dämmernde Gefilde,
Auf das herab ſchon Heſpers Fackel glüht:
Verſchwunden ſind vor mir des Tags Gebilde.

Die Nebel fliehn; der Sterne Welt geht auf;
Sie blinken Aug an Auge ſchon am Himmel:
Frey wandeln ſie jetzt den gewohnten Lauf,
Den feſtlichen, in ſeligem Gewimmel.

Mein innres Licht wird durch ihr Licht erhellt:
Es tagt in mir; ich wähne, neue Augen
Gehn in mir auf, die Wunder jener Welt
Voll Pracht und hoher Schönheit einzuſaugen.

Der Gottheit Strahl berühret mich und reiſst
Mich hoch empor, weit über niedre Zonen
Hin wo der Quell der ewgen Wahrheit fleuſst,
Und die Geſtalten alles Guten thronen.

Conz.

# Der Taucher.

## *Ballade.*

Wer wagt es, Rittersmann oder Knapp,
Zu tauchen in dieſen Schlund?
Einen goldnen Becher werf ich hinab,
Verſchlungen ſchon hat ihn der ſchwarze Mund.
Wer mir den Becher kann wieder zeigen,
Er mag ihn behalten, er iſt ſein eigen.

Der König ſprach es, und wirft von der Höh
Der Klippe, die ſchroff und ſteil
Hinaus hängt in die unendliche See,
Den Becher in der Charybde Geheul.
Wer iſt der Beherzte, ich frage wieder,
Zu tauchen in dieſe Tiefe nieder?

Und die Ritter, die Knappen um ihn her,
Vernehmens und ſchweigen ſtill,
Sehen hinab in das wilde Meer,
Und keiner den Becher gewinnen will.
Und der König zum drittenmal wieder fraget:
Iſt keiner, der ſich hinunter waget?

Doch alles noch ſtumm bleibt wie zuvor,
Und ein Edelknecht, ſanft und keck,
Tritt aus der Knappen zagendem Chor,
Und den Gürtel wirft er, den Mantel weg,
Und alle die Männer umher und Frauen
Auf den herrlichen Jüngling verwundert ſchauen.

Und wie er tritt an des Felſen Hang,
Und blickt in den Schlund hinab,
Die Waſſer, die ſie hinunter ſchlang,
Die Charybde jetzt brüllend wiedergab,

Und wie mit des fernen Donners Getoſe
Entſtürzen ſie ſchäumend dem finſtern
Schooſe.

Und es wallet und ſiedet und brauſet und
ziſcht,
Wie wenn Waſſer mit Feuer ſich mengt,
Bis zum Himmel ſprützet der dampfende
Giſcht,
Und Flut auf Flut ſich ohn Ende drängt,
Und will ſich nimmer erſchöpfen und leeren,
Als wollte das Meer noch ein Meer gebähren.

Doch endlich, da legt ſich die wilde Gewalt,
Und ſchwarz aus dem weiſsen Schaum
Klafft hinunter ein gähnender Spalt,
Grundlos als giengs in den Höllenraum,
Und reiſſend ſieht man die brandenden
Wogen
Hinab in den ſtrudelnden Trichter gezogen.

Jetzt ſchnell, eh die Brandung zurückekehrt,
Der Jüngling ſich Gott befiehlt,
Und — ein Schrey des Entſetzens wird rings gehört,
Und ſchon hat ihn der Wirbel hinweggeſpült,
Und geheimnifsvoll über dem kühnen Schwimmer
Schliefst ſich der Rachen, er zeigt ſich nimmer.

Und ſtille wirds über dem Waſſerſchlund,
In der Tiefe nur brauſet es hohl,
Und bebend hört man von Mund zu Mund:
Hochherziger Jüngling, fahre wohl!
Und hohler und hohler hört mans heulen.
Und es harrt noch mit bangem, mit ſchrecklichem Weilen.

Und wärfſt du die Krone ſelber hinein,
Und ſprächſt: wer mir bringet die Kron',

Er ſoll ſie tragen und König ſeyn,
Mich gelüſtete nicht nach dem theuren Lohn,
Was die heulende Tiefe da unten verhehle,
Das erzählt keine lebende glückliche Seele.

Wohl manches Fahrzeug, vom Strudel gefaſst,
Schoſs gäh in die Tiefe hinab,
Doch zerſchmettert nur rangen ſich Kiel und Maſt,
Hervor aus dem alles verſchlingenden Grab.
Und heller und heller wie Sturmes Sauſen
Hört mans näher und immer näher brauſen.

Und es wallet und ſiedet und brauſet und ziſcht,
Wie wenn Waſſer mit Feuer ſich mengt,
Bis zum Himmel ſprützet der dampfende Giſcht,

Und Well' auf Well' ſich ohn Ende drängt,
Und wie mit des fernen Donners Getoſe
Entſtürzt es brüllend dem finſtern Schooſe.

Und ſieh! aus dem finſter flutenden Schooſs
Da hebet ſichs ſchwanenweiſs,
Und ein Arm und ein glänzender Nacken wird bloſs
Und es rudert mit Kraft und mit emſigem Fleiſs,
Und er iſts, und hoch in ſeiner Linken
Schwingt er den Becher mit freudigem Winken.

Und athmete lang und athmete tief,
Und begrüſste das himmliſche Licht.
Mit Frohlocken es einer dem andern rief,
Er lebt! Er iſt da! Es behielt ihn nicht.
Aus dem Grab, aus der ſtrudelnden Waſſerhöhle
Hat der Brave gerettet die lebende Seele.

Und er kommt, es umringt ihn die jubelnde Schaar,
Zu des Königs Füfsen er ſinkt,
Den Becher reicht er ihm knieend dar,
Und der König der lieblichen Tochter winkt,
Die füllt ihn mit funkelndem Wein bis zum Rande,
Und der Jüngling ſich alſo zum König wandte:

Lang lebe der König! Es freue ſich,
Wer da athmet im roſigten Licht,
Da unten aber iſts fürchterlich,
Und der Menſch verſuche die Götter nicht,
Und begehre nimmer und nimmer zu ſchauen
Was ſie gnädig bedecken mit Nacht und Grauen.

Es riſs mich hinunter Blitzesſchnell,
Da ſtürzt' mir aus felſigtem Schacht,
Wildflutend entgegen ein reiſſender Quell,
Mich pakte des Doppelſtroms wüthende Macht,

Und wie einen Kreifel mit fchwindelndem Drehen,
Trieb michs um, ich konnte nicht widerftehen.

Da zeigte mir Gott, zu dem ich rief,
In der höchften fchrecklichen Noth,
Aus der Tiefe ragend ein Felfenrif,
Das erfafst' ich behend und entrann dem Tod,
Und da hieng auch der Becher an fpitzen Korallen,
Sonft wär er ins Bodenlofe gefallen.

Denn unter mir lags noch, Bergetief,
In purpurner Finfternifs da,
Und obs hier dem Ohre gleich ewig fchlief,
Das Auge mit Schaudern hinunter fah,
Wies von Salamandern und Molchen und Drachen
Sich regte in dem furchtbaren Höllenrachen.

Schwarz wimmelten da, in grauſem Gemiſch
Zu ſcheuſslichen Klumpen geballt,
Der ſtachlichte Roche, der Klippenfiſch,
Des Hammers gräuliche Ungeſtalt,
Und dräuend wies mir die grimmigen Zähne
Der entſetzliche Hay, des Meeres Hyäne.

Und da hieng ich und war mirs mit Grauſen
bewuſst,
Von der menſchlichen Hülfe ſo weit.
Unter Larven die einzige fühlende Bruſt,
Allein in der gräſslichen Einſamkeit,
Tief unter dem Schall der menſchlichen Rede
Bey den Ungeheuern der traurigen Oede.

Und ſchaudernd dacht ichs, da krochs heran,
Regte hundert Gelenke zugleich,
Will ſchnappen nach mir, in des Schreckens
Wahn
Laſs ich los der Koralle umklammerten
Zweig.

Gleich faſst mich der Strudel mit raſendem Toben,
Doch es war mir zum Heil, er riſs mich nach oben.

Der König darob ſich verwundert ſchier,
Und ſpricht: Der Becher iſt dein,
Und dieſen Ring noch beſtimm ich dir,
Geſchmückt mit dem köſtlichſten Edelgeſtein,
Verſuchſt dus noch einmal und bringſt mir Kunde,
Was du ſahſt auf des Meers tiefunterſtem Grunde?

Das hörte die Tochter mit weichem Gefühl,
Und mit ſchmeichelndem Munde ſie fleht:
Laſst Vater genug ſeyn das grauſame Spiel,
Er hat euch beſtanden, was keiner beſteht,
Und könnt ihr des Herzens Gelüſten nicht zähmen,
So mögen die Ritter den Knappen beſchämen.

Drauf der König greift nach dem Becher
schnell,
In den Strudel ihn schleudert hinein,
Und schaffst du den Becher mir wieder
zur Stell,
So sollst du der treflichste Ritter mir seyn,
Und sollst sie als Ehgemahl heut noch
umarmen,
Die jetzt für dich bittet mit zartem Erbarmen.

Da ergreifts ihm die Seele mit Himmels-
gewalt,
Und es blitzt aus den Augen ihm kühn,
Und er siehet erröthen die schöne Gestalt,
Und sieht sie erbleichen und sinken hin,
Da treibts ihn, den köstlichen Preifs zu
erwerben,
Und stürzt hinunter auf Leben und
Sterben.

Wohl hört man die Brandung, wohl kehrt
sie zurück,
Sie verkündigt der donnernde Schall,
Da bückt sichs hinunter mit liebendem Blick
Es kommen, es kommen die Wasser all,
Sie rauschen herauf, sie rauschen nieder,
Den Jüngling bringt keines wieder.

SCHILLER.

## Die Wahl.

Fürchte nicht viel und hoffe noch weniger;
zähme des Herzens
Kühne Begierden und sey hoch wie die
Götter beglückt.
Also räth die Vernunft; doch bescheidener
wählt die Empfindung
Immer nur menschliches Glück, fürchtet
und hoffet und liebt.

R.

## An den Aether.

Treu und freundlich, wie du, erzog der Götter und Menſchen
Keiner, o Vater Aether! mich auf; noch ehe die Mutter
In die Arme mich nahm und ihre Brüſte mich tränkten,
Faſsteſt du zärtlich mich an und goſſeſt himmliſchen Trank mir,
Mir den heiligen Odem zuerſt in den keimenden Buſen.

Nicht von irdiſcher Koſt gedeihen einzig die Weſen,
Aber du nährſt ſie all' mit deinem Nektar, o Vater!
Und es drängt ſich und rinnt aus deiner ewigen Fülle

Die beſeelende Luft durch alle Röhren des Lebens.
Darum lieben die Weſen dich auch und ringen und ſtreben
Unaufhörlich hinauf nach dir in freudigem Wachsthum.

Himmliſcher! ſucht nicht dich mit ihren Augen die Pflanze,
Streckt nach dir die ſchüchternen Arme der niedrige Strauch nicht?
Daſs er dich finde, zerbricht der gefangene Saame die Hülſe,
Daſs er belebt von dir in deiner Welle ſich bade,
Schüttelt der Wald den Schnee, wie ein überläſtig Gewand ab.
Auch die Fiſche kommen herauf und hüpfen verlangend
Ueber die glänzende Fläche des Stroms, als begehrten auch dieſe

Aus der Wiege zu dir; auch den edeln Thieren der Erde
Wird zum Fluge der Schritt, wenn oft das gewaltige Sehnen
Die geheime Liebe zu dir ſie ergreift, ſie hinaufzieht.
Stolz verachtet den Boden das Roſs, wie gebogener Stahl ſtrebt
In die Höhe ſein Hals, mit der Hufe berührt es den Sand kaum.
Wie zum Scherze, berührt der Fuſs der Hirſche den Grashalm,
Hüpft, wie ein Zephyr, über den Bach, der reiſsend hinabſchäumt,
Hin und wieder und ſchweift, kaum ſichtbar durch die Gebüſche.
Aber des Aethers Lieblinge, ſie, die glücklichen Vögel
Wohnen und ſpielen vergnügt in der ewigen Halle des Vaters!

Raums genug ist für alle. Der Pfad ist keinem bezeichnet,
Und es regen sich frey im Hause die Grossen und Kleinen.
Ueber dem Haupte frohlocken sie mir und es sehnt sich auch mein Herz
Wunderbar zu ihnen hinauf; wie die freundliche Heimath
Winkt es von oben herab und auf die Gipfel der Alpen
Möcht' ich wandern und rufen von da dem eilenden Adler,
Dass er, wie einst, in die Arme des Zeus den seeligen Knaben,
Aus der Gefangenschaft in des Aethers Halle mich trage.
Thöricht treiben wir uns umher; wie die irrende Rebe,
Wenn ihr der Stab gebricht, woran zum Himmel sie aufwächst,

Breiten wir über dem Boden uns aus und
suchen und wandern
Durch die Zonen der Erd', o Vater Aether! vergebens,
Denn es treibt uns die Luft in deinen Gärten zu wohnen.
In die Meersfluth werfen wir uns, in den
freieren Ebnen
Uns zu sättigen, und es umspielt die unendliche Wooge
Unsern Kiel, es freut sich das Herz an den
Kräften des Meergotts.
Dennoch genügt ihm nicht; denn der tiefere Ozean reitzt uns,
Wo die leichtere Welle sich regt — o wer
dort an jene
Goldnen Küsten das wandernde Schiff zu
treiben vermöchte!

Aber indess ich hinauf in die dämmernde Ferne mich sehne,

Wo du fremde Geſtad' umfängſt mit der bläulichen Woge,
Kömmſt du ſäuſelnd herab von des Fruchtbaums blühenden Wipfeln,
Vater Aether! und ſänftigeſt ſelbſt das ſtrebende Herz mir,
Und ich lebe nun gern, wie zuvor, mit den Blumen der Erde.

D.

## Die Menſchen.

Weil mich die Menſchheit entzückt in dem Zauberſpiegel der Dichtung,
Sind mir die Menſchen verhaſst; denn ſie zerbrechen das Glas.

R.

# Reiterlied.

*Aus dem Wallenſtein.*

Wohlauf Kameraden, aufs Pferd, aufs Pferd!
Ins Feld, in die Freiheit gezogen.
Im Felde, da iſt der Mann noch was werth,
Da wird das Herz noch gewogen.
Da tritt kein anderer für ihn ein,
Auf ſich ſelber ſteht er da ganz allein.

*Chor.*

Da tritt kein anderer für ihn ein,
Auf ſich ſelber ſteht er da ganz allein.

Aus der Welt die Freiheit verſchwunden iſt,
Man ſieht nur Herren und Knechte,
Die Falſchheit herrſchet, die Hinterliſt,
Bey dem feigen Menſchengeſchlechte,
Der dem Tod ins Angeſicht ſchauen kann,
Der Soldat allein iſt der freie Mann.

*Chor.*

Der dem Tod ins Angeſicht ſchauen kann.
Der Soldat allein iſt der freie Mann.

Des Lebens Aengſten, er wirft ſie weg,
Hat nicht mehr zu fürchten, zu ſorgen,
Er reitet dem Schickſal entgegen keck,
Trifts heute nicht, trift es doch morgen,
Und trift es morgen, ſo laſſet uns heut
Noch ſchlürfen die Neige der köſtlichen Zeit.

*Chor.*

Und trift es morgen, ſo laſſet uns heut
Noch ſchlürfen die Neige der köſtlichen Zeit.

Von dem Himmel fällt ihm ſein luſtig Loos,
Brauchts nicht mit Müh zu erſtreben,
Der Fröhner, der ſucht in der Erde Schooſs,
Da meint er den Schatz zu erheben,
Er gräbt und ſchaufelt, ſo lang er lebt,
Und gräbt, bis er endlich ſein Grab ſich gräbt.

*Chor.*

Er gräbt und ſchaufelt, ſo lang er lebt,
Und gräbt, bis er endlich ſein Grab ſich
gräbt.

Der Reuter und ſein geſchwindes Roſs,
Sie ſind gefürchtete Gäſte,
Es flimmern die Lampen im Hochzeitſchloſs
Ungeladen kommt er zum Feſte.
Er wirbet nicht lange, er zeiget nicht Gold,
Im Sturm erringt er den Minneſold.

*Chor.*

Er wirbet nicht lange, er zeiget nicht Gold
Im Sturm erringt er den Minneſold.

Warum weint die Dirn' und zergrämet ſich
ſchier?
Laſs fahren dahin, laſs fahren!
Er hat auf Erden kein bleibend Quartier,
Kann treue Lieb' nicht bewahren.

Das raſche Schickſal, es treibt ihn fort,
Seine Ruhe läſst er an keinem Ort.

*Chor.*

Das raſche Schickſal, es treibt ihn fort,
Seine Ruhe läſst er an keinem Ort.

SCHILLER.

## Die Erinnerung.

In die Vergangenheit ſchaue zurück und denkſt du der Thränen,
Denke des Jugendtraums lächelnder Freuden zugleich.
Blüthen der Liebe ſelbſt, von des Schickſals grauſamer Senſe
Früh dir niedergemäht, duften im Welken noch ſüſs.

R.

# Das Meer.

Ergötzend iſt und ſchön das Meer,
Wann ſeine Silberwellen,
Ums Schiff in gleichem Takte her
Sich mit Gemurmel ſchwellen.

Erquickend, wann im Sommer kühl
Und friſch die Winde ſäuſeln,
Und Porpuſſe mit ihrem Spiel
Die naſſe Fläche kräuſeln:

Und herrlich wann der Sonne Licht
Sich aus der Tiefe windet
Und vor dem Feuer Angeſicht
Die ſchwarze Nacht verſchwindet;

Und wann in einer Sommer Nacht
Der Mond, die Sterne lachen,
Wem wird des Meeres ſtille Pracht
Das Herz nicht gröſser machen?

Sieh! jede Welle trägt ein Bild,
Und tanzt im Glanz der Sterne,
Und tausend Monde schwimmen mild
Heran aus grauer Ferne!

Doch plötzlich steigt von Ferne her
Ein dichter Wolkenschleyer;
Du siehst des Himmels Blau nicht mehr,
Nicht mehr der Sonne Feuer.

Der Sturmwind rast und pfeift und heult
Aus seinen engen Klüften;
Der Donner rollt, der Blitz zertheilt
Die Wolken in den Lüften.

In Berg und Thal kehrt sich das Meer,
Die Woge wird zum Thurme,
Und trunken schwankt das Schiff einher
Im grauenvollen Sturme.

Es krachen Ruder, Bord und Maſt,
Es knirren Tau und Stricke;
Und was die Wuth des Windes faſst
Zerſtiebt in tauſend Stücke!

Und jeder Schritt iſt ungewiſs,
Du taumelſt an den Wänden,
Und jeder Stoſs und jeder Riſs
Droht deinen Lauf zu enden.

Ihr welche Luſt, Beruf und Stand,
Auf Schiff und Meere zwingen,
Ihr mögt den Pumper in der Hand
Des Meeres Reiz beſingen!

Trotz euerm Lobe finde ich
Am Meere kein Behagen;
Und nicht um Gold ſolls wieder mich
Auf ſeinem Rücken tragen.

Jägle.

# Legende.

Als noch, verkannt und ſehr gering,
Unſer Herr auf der Erde ging,
Und viele Jünger ſich zu ihm fanden,
Die ſehr ſelten ſein Wort verſtanden,
Liebt er ſich gar über die Maſen
Seinen Hof zu halten auf der Straſsen,
Weil unter des Himmels Angeſicht
Man immer beſſer und freyer ſpricht;
Er lieſs ſie da die höchſten Lehren
Aus ſeinem heilgen Munde hören;
Beſonders durch Gleichniſs und Exempel
Macht er einen jeden Markt zum Tempel.

So ſchlendert' er, in Geiſtes Ruh,
Mit ihnen einſt einem Städtchen zu,
Sah etwas blinken auf der Straſs,
Das ein zerbrochen Hufeiſen was.

Er

Er ſagte zu St. Peter drauf:
Heb doch einmal das Eiſen auf!
Sanct Peter war nicht aufgeräumt,
Er hatte ſo eben im Gehen geträumt,
So was vom Regiment der Welt,
Was einem jeden wohlgefällt,
Denn im Kopf hat das keine Schranken,
Das waren ſeine liebſten Gedanken.
Nun war der Fund ihm viel zu klein,
Hätte müſſen Kron und Zepter ſeyn,
Aber wie ſollt er ſeinen Rücken
Nach einem halben Hufeiſen bücken?
Er alſo ſich zur Seite kehrt
Und thut als hätt' ers nicht gehört.

Der Herr, nach ſeiner Langmuth, drauf
Hebt ſelber das Hufeiſen auf
Und thut auch weiter nicht dergleichen.
Als ſie nun bald die Stadt erreichen,
Geht er vor eines Schmiedes Thür,

Nimmt von dem Mann drey Pfennig dafür.
Und als ſie über den Markt nun gehen
Sieht er daſelbſt ſchöne Kirſchen ſtehen,
Kauft ihrer, ſo wenig oder ſo viel,
Als man für einen Dreyer geben will,
Die er ſodann nach ſeiner Art,
Ruhig im Ermel aufbewahrt.

Nun gings zum andern Thor hinaus,
Durch Wieſ' und Felder ohne Haus,
Auch war der Weg von Bäumen blos,
Die Sonne ſchien, die Hitz war groſs,
So daſs man viel an ſolcher Stätt',
Für einen Trunk Waſſer gegeben hätt'.
Der Herr geht immer voraus vor allen,
Läſst unverſehens eine Kirſche fallen.
Sanct Peter war gleich dahinter her,
Als wenn es ein goldner Apfel wär,
Das Beerlein ſchmeckte ſeinem Gaum.
Der Herr, nach einem kleinen Raum,

Ein ander Kirſchlein zur Erde ſchickt,
Wornach Sanct Peter ſchnell ſich bückt,
So läſst der Herr ihn ſeinen Rücken
Gar vielmal nach den Kirſchen bücken.
Das dauert eine ganze Zeit.
Dann ſprach der Herr mit Heiterkeit:
Thätſt du zur rechten Zeit dich regen,
So hättſt du's bequemer haben mögen.
Wer geringe Ding wenig acht't
Sich um geringere Mühe macht.

GOETHE.

## Die Urne und das Skelet.

In das Grab hinein pflanzte der menſchliche Grieche noch Leben,
Und du thöricht Geſchlecht ſtellſt in das Leben den Tod.

E.

# Die Hunde.

Vor Zeiten da die Hunde noch
Entfremdet von des Menſchen Joch
Nomadiſch in den Wäldern hauſten,
Fiel manchem ſeine Nahrung ſchwer,
Weil ihnen Wolf und Fuchs und Bär
Aus Miſsgunſt oft das Fell zerzauſsten.
Allein ſie waren frey: der Krieg
Gab ihnen Kraft, und Ruh der Sieg,
Und wenn die grauen Helden ſtarben,
So küſsten Enkel ihre Narben,
Und ſchwuren brav wie ſie zu ſeyn.
Zuletzt, durch ſtete Balgereyen
Ermüdet giengen die Partheyen
Den Theilungsplan des Bären ein,
Der ſich, dem Wolf und Fuchs die Wälder,
Der Hundezunft die flachen Felder,
Zur Wildbahn vorſchlug. Anfangs war

Der kriegserfahrnen Hundeſchaar
Die Jagd ergiebig; Feld und Wieſen
Gewährten ihnen reiche Priſen
An Haaſen und an kleinerm Wild,
Das ſie mit Siegsgeſchrey verzehrten.
Allein je ſtärker ſie ſich mehrten,
Je leerer wurde das Gefild;
Bald gab es gar nichts mehr zu jagen
Und nun trat bittrer Mangel ein;
Die muthigſten (ein leerer Magen
Gehorchet keinem Grenzverein)
Beſtürmten einen nahen Hain
Und wurden, ungeübt im Streite,
Weil, wenn der Hund mit Haaſen kriegt,
Sein Haupttalent im Laufen liegt,
Der Bären und der Wölfe Beute.
Nun wollte zwar die Colonie,
Aus Hunger Obſt und Wurzeln kauen,
Allein die Armen lernten ſie
So wenig als das Gras verdauen.

Jetzt ſchlich ein abgezehrter Greis,
Ein Pudel war's, in ihren Kreis
Und ſprach: was wollen wir uns plagen,
Mit Müh und Fahr in Wald und Flur,
Um jeden Biſſen uns zu ſchlagen?
Wagt ihr's dem König der Natur
Euch zu Gehülfen anzutragen,
So habt ihr Obdach, Schutz und Brod.
Er ſchwieg. Der Schlauſte der Sophiſten
Der alles übertäubt, die Noth,
Half ihm die Brüder überliſten.
Die Motion ward dekretirt,
Und Vater Pudel deputiert,
Die Unterhandlung anzufangen.
Geſcheute Köpfe krönt das Glück;
Der Menſch gewährte ſein Verlangen
Und keine Woche war vergangen
So kam ſchon der Legat zurück.
Mit vollem Wanſt und glatten Backen
Trug er zum Pfand der Allianz

Ein goldnes Halsband um den Nacken
Und bunte Schleifen auf dem Schwanz.
Das war ein Jubel! Die Verwandten
Empfiengen ihren Abgeſandten
Mit Feldmuſik und Ringeltanz.
Nun traten die verſchiednen Caſten,
Bey Hirten, Bauern und Dynaſten
In ihre neuen Aemter ein.

Der erſte Tag glich einem Feſte:
Die Wirthe gaben froh die Reſte
Der Mahlzeit preis, um ihre Gäſte
Zu Bundsgenoſſen einzuweihn.
Entzückt pries jeder ſeinen Retter
Und ſein Geſchick, ward täglich fetter
Und heimiſcher. Doch dieſer Schein
Des Glücks beſtand nur wenig Wochen;
Der Freund ward nach und nach ein Knecht,
Die Hauskoſt wurde ſchmal und ſchlecht,
Bald war's ein abgeſchälter Knochen,

Bald Spühlicht oder hartes Brod;
Und fand zu ſeines Zwingherrn Freude
Durch ihn ein Haas, ein Hirſch den Tod,
Da war ſein Lohn das Eingeweide.
Mit jedem Jahre wuchs das Maas
Des Grames, der den armen Thieren,
Dem Krebſe gleich, am Herzen fraſs;
Und wollte jemand proteſtieren,
So hieſs es: ſchweig du Rabenaas!
Mit einem Worte: Knut und Bande
Und Kerker waren meiſt ihr Loos.
Stieg einer in des Glückes Schooſs,
So that er's auf dem Weg der Schande;
Er kaufte ſich der Schönen Gunſt
Durch Schmiegen und durch Speichellecken
Und durch der Gaukler ſchnöde Kunſt
Erwarb er ſich die Huld der Gecken.
Noch mehr; er durfte kaum noch ſchreyn,
Liefs dieſer, um ihn aufzuputzen,
Die Ohren und den Schwanz ihm ſtutzen;

Und trat zuletzt das Alter ein,
So machten oft dem Hofbeſchützer,
So wie dem faulen Stubenſitzer,
Ein an den Hals gehenkter Stein,
Ein Schuſs, ja ſelbſt des Henkers Hände
Durch einen Keulenſchlag, ein Ende.
Auch ſahen viele nie das Licht,
Die man bey der Geburt erſäufte,
Damit ſich ihre Zahl nicht häufte,
Und ihre Mütter wagtens nicht
Die ſeufzende Natur zu rächen.
Doch endlich weckten Harm und Wuth
Des armen Völkleins trägen Muth;
Man fieng von Freyheit an zu ſprechen.
In einem heimlichen Senat
Gab einſt ein Pommer laut den Rath
Das Joch der Sklaverey zu brechen.
Krieg! rief der helle Haufen, Krieg!
Nur ein bejahrter Dogge ſchwieg
Und als der ganze Rudel wollte

Daſs er ſein Urtheil ſagen ſollte,
Sprach er: ihr wollt die Knechtſchaft fliehn,
Wollt frey ſeyn? gut, ihr könnt es werden.
Doch wollt ihr dann auch den Beſchwerden
Des ſchönen Kampfs euch unterziehn?
Wollt ihr, wie zu der Väter Zeiten,
Euch in den unwirthbaren Wald
Um euern kargen Unterhalt
Mit Wölfen und mit Bären ſtreiten?
Ihr kennt des Menſchen Allgewalt;
Wollt ihr, verfolgt euch ſeine Rache,
Dem Tode für die gute Sache
Mit kaltem Trotz entgegen gehn?
Wollt ihr ... hier ſchwieg der Demoſthen.
Warum? Ei weil die Freyheitshelden
Geſchreckt in ihre Kerker flohn.
Dieſs war doch ohne Ruhm zu melden,
Dein Werk, Civiliſation!

Pfeffel.

## Frühlingsſpatziergang.

Drängt nicht alle ſo mächtig auf einmal, gewaltige Götter,
Aus der verjüngten Natur, auf das verjüngte Gemüth!
Wohl bewohnen der Göttlichen viele die ſilbernen Hüttchen
Blühender Bäume; ſie ſind's, zittert durch's Silber das Grün;
Und Philomelens Geſang iſt Klage der zärtlichen Göttin;
Lerchen begeiſtert der Gott; hebet der Meiſe die Bruſt.
Schwebet nur immer Sylphiden, mich zieht noch ein Andrer nach euch hin;
Und aus des Cyanus Kron winkt mir ein anderer Gott.

Faſste den Menſchen ſo frohes Erzittern im
Leben des Frühlings,
Wär' es nicht höhere Macht, was in dem
Frühling ihm lebt?
Aber ſie drängen zu mächtig die ſtarken,
gewaltigen Götter;
Wirken ſie alle zumal aus der verjüngten
Natur.
Gäb' es dem Menſchen auch ſonſt Apollon,
daſs er der Lyra
Saiten rühr', und Geſang; ſtumm doch
erbebt' er alsdann.

Siegfr. Schmidt.

## Das Regiment.

Das Geſetz ſey der Mann in des Staats
geordnetem Haushalt,
Aber mit weiblicher Huld herrſche
die Sitte darin

E.

## Gesang und Kuss.

*Sonett.*

Wenn fremde Blicke wachsam uns umgeben,
Und unsre tiefe Sehnsucht, ungestillt,
Sich in der Heiterkeit Gebährde hüllt,
Und leise kaum den Busen wagt zu heben;
Dann ist nur Eins, o mein geliebtes Leben!
Was mein Gemüth mit Wonn' und Ahndung füllt:
Die Melodie, so deinem Mund entquillt,
Der seelenvollen Töne sanftes Schweben.
Wie Liebesodem fühl' ich den Gesang
Auf diesen Lippen die vergebens glühen;
Zum Kusse wird mir jeder zarte Klang.
Und nenne dieſs nicht eitle Fantasien:
Vernehm' ich nicht im schweigenden Umfang
Auch deines Herzens schöne Harmonien?

A. W. Schlegel.

## Troſt des Edlen.

Wild loderte, gleich Aetnas Glut,
Der Todesgötter Zorn;
Zerſchmettert, ach! verſank in Blut
Des Überfluſſes Horn.
Verwüſtung donnerte die Schlacht,
Wo jüngſt von Luſtgeſang
Noch Saatfeld, Anger, Strom und Schacht
Und freudig vom Gewühl der Jagd
Gebirg und Forſt erklang.

Ein Chaos von Ruinen thürmt
Sich längs der Felſenwand,
Wo, ſtill vom Nuſsbaumhain umſchirmt,
Der Väter Wohnung ſtand.
Die Thräne, die hier brennend fällt,
Sie muſs die lezte ſeyn!
Wem Selbſtgefühl den Buſen ſchwellt,
Der trägt im Innern eine Welt
Wo nimmer Stürme dräun.

Ihm flammt der Unſchuld Göttermuth,
Den kein Verhängniſs raubt;
Des Miſsgeſchicks Tyrannenwuth
Beugt nie des Edlen Haupt;
Er weiſs, daſs der Befreyung Plan
Durch Irrgewinde führt,
Und herrlich ſich, am Ziel der Bahn
In Glanz das Dunkel, der Orkan
In Frühlingswehn verliert.

Drum kann im weiten Schöpfungsraum
Er, ein Verlaſsner, ſtehn,
Und doch des Lebens öden Traum
Mit Lächeln dauren ſehn;
Wenn ſelbſt bis an des Grabes Rand'
Ihn ſchwarze Nacht umflieſst,
Kein Herz an ihn ſich liebend band,
Und eine kalte Miethlingshand
Sein brechend Auge ſchlieſst.

MATTHISSON.

# Phaethon.

An des Heiligthums geweihter Schwelle
Flehend zu des Allbelebers Thron
Lag, umfloſſen von Aurorens Helle,
Phaethon, Apollons edler Sohn.
Seine Seufzer drangen durch die Lüfte,
Seine Thränen fielen auf den Stein,
Und der frühen Opfer ſüſse Düfte
Wall'ten durch den Lorbeerhain.

Schöner wand auf Hellas weiten Fluren
Von der Mutter Schooſs ein Sohn ſich nicht.
Seiner Götterabkunft hohe Spuren
Strahlten von des Jünglings Angeſicht.
Lockend flog entgegen ihm und ſchmachtend
Jedes Mädchens ſehnſuchtsvoller Blick;
Doch, der Liebe holdes Glück verachtend,
Gab er keinen je zurück.

Schon dem Knaben waren Knabenſpiele,
Jünglingsluſt dem Jünglinge verhaſst;
Höher ſchimmern ſeiner Wünſche Ziele,
Und der Erde Schranken ſind ihm Laſt.
Eingedenk daſs er vom Himmel ſtammet,
Flieht zu ihm ſein Auge ſehnend hin,
Und des Staubes niedre Luſt entflammet
Nimmer ſeinen hohen Sinn.

Jeden Morgen, kaum daſs noch Aurore
Sich von ihres Gatten Seite ſchlich,
Raſſt, gewecket von der frühſten Hore,
Phaethon vom harten Lager ſich.
Schwach nur ſchimmert noch die Morgenröthe,
Heller ſeiner Opfer Flamme ſchon,
Und des Jünglings brünſtige Gebete
Fliehn empor zu Phöbos Thron.

"Du, dem oft ſchon meine Wünſche nahten,
Den mein ſchwaches Auge nicht begreift,

Der voll Huld des Landbebauers Saaten
Und der Hesperiden Aepfel reift,
Der in der Gebirge tiefen Schachten
Labung kocht für die erſtorbne Flur —
Gütig Allen, die nach Hülfe ſchmachten
Zürneſt du dem Sohne nur?"

"Wirſt du nimmer dieſes Flehn erhören,
Das ſich heiſs aus meiner Seele ringt?
Nimmer, nimmer mir den Wunſch gewähren,
Der ſich aufwärts aus der Seele ſchwingt?
Höher ſtrebt's in meiner Bruſt und höher,
Und der Erde Freuden ſind mir Spott.
Bring'! o bringe mich dem Urquell näher,
Allbeleber! Vater! Gott!"

"Ha! vergebens bieten Erdentöchter
Mir Cytherens oft erſehnten Kranz;
Ihrer niedern Flammen ein Verächter
Blick' ich auf zu Phöbos reinem Glanz.

Freundſchaft ſelbſt, die jeden Schmerz zu lindern
Sonſt vermag, mir iſt ſie nicht gewährt;
Freundſchaft mit Prometheus ſchwachen Kindern
Iſt des Götterſohns nicht werth."

"Einſam irr' ich auf den Felſenhöhen,
Einſam in dem mondbeglänzten Thal,
In der Nacht des Haines, an der Seen
Lichtem Ufer, ohne Raſt der Qual.
Ach! vergebens ſuch ich in den Armen
Der Natur ein lang' erſehntes Glück;
Meine Klagen giebt mir ohn' Erbarmen
Echo höhnend nur zurück."

"Winken nicht in zauberiſchem Lichte
Dort an jenes Hügels grüner Wand
Mir der Hesperiden goldne Früchte?
Sie entſchlüpfen der betrognen Hand.

Durſtend ſchmacht' ich und mein Gaumen glühet,
Tantaln gleich, ſchon nahe dem Genuſs;
Ach! vor meinen dürren Lippen fliehet
Spottend ein Eridanus."

"Immer ſehnend, ſtrebend — ausgeſtoſsen
Aus den kalten Armen der Natur,
Flieht mein Geiſt dahin, wo er entſproſſen,
Sucht am Firmament der Heimath Spur.
Ja, ich fühl's, ein Gott hat mich gezeuget!
Doch wer hat mich dem Olymp entwandt?
Hat zur Erde nieder mich gebeuget?
Sie iſt nicht mein Vaterland!"

"Wie iſt dieſe Wirklichkeit ſo enge,
Die von allen Seiten mich umgiebt,
Die mit rauhen Armen das Gedränge
Meiner ſchönen Träume oft zerſtiebt!
Aber ſoll ich ewig denn nur träumen?

Seh ich dieſes Sehnen nie erfüllt,
Nie den oft geſtreuten Samen keimen,
Nie die Blüthen unverhüllt?"

"O wozu, wozu dies heiſse Streben,
Das mein ganzes Innerſtes durchglüht?
Soll ich ewig an der Erde kleben,
Wo des Strebens Blume nimmer blüht?
Nein! nicht länger will ich müſsig gaffen
Nach des Himmels unbekannten Höhn.
Ich will ſelber eine Welt mir ſchaffen,
Sollt' ich ſchaffend auch vergehn!"

"Strömt denn glühend nicht durch meine Adern
Der Olympier unſterblich Blut?
Oder muſs ich mit dem Zeuger hadern
Um des innern Feuers wilde Glut?
Laſs mich endlich doch den Vater ſehen!
Ach! noch ſtets verbarg der Gott ihn mir.

Steig' herab von des Olympos Höhen,
Oder zeuch mich auf zu dir!"

"Ha der Schande! Phaethon, entſproſſen
Aus Kronions göttlichem Geblüt,
Lebt verbannt, bei ſterblichen Genoſſen,
Er, in dem Apollons Feuer glüht!
Wie ſie ſpotten! daſs ſie Zeus verderbe,
Dieſes Staubes haſsenswerthe Brut!
""Baſtard! wo dein väterliches Erbe?
Was bezeugt dein Götterblut?""

"Send', o Vater, ſende denn ein Zeiche',
Daſs ich Helios Erzengter ſey!
Laſs beſchämt die feigen Frevler weichen,
Laſs verſtummen ihre Spötterey!
Stamm' auch ich aus göttlichem Geſchlechte?
Bin auch ich wie du ein Götterſohn?
O! wo ſind denn meiner Ahnen Rechte,
Wo der Götterabkunft Lohn?"

"Einmal nur — o höre mein Begehren,
Schämſt du dich der Mutter Liebe nicht,
Darf ich ſcheulos dich als Vater ehren,
Und iſt Sohnesliebe meine Pflicht —
Einmal nur laſs mich der Sonnenpferde
Muthiges Geſpann durch jene Bahn
Aufwärts lenken von der niedern Erde,
Götterodem zu empfahn!"

"Nur wo flammend dort in ew'ger Klarheit,
Helios, dein göttlich Auge wacht,
Wohnt, umſtrahlt von Himmelsglanz, die Wahrheit,
Steiget nie zu dieſes Thales Nacht.
Hier herrſcht Trug und Schatten und Verweſung,
Hier des ſchwarzen Todes dunkelnd Graun.
Sende du von oben mir Erlöſung,
Vater, laſs mich Wahrheit ſchaun!"

So der Jüngling — und die feuchte Wange
Senkt er ſtill auf das gebogne Knie.
Schauerliche Stille herrſchte lange,
Leiſe Seufzer nur durchbrachen ſie.
Jetzt, erregt von unſichtbaren Mächten,
Dringt ein feyerlicher Schall hervor.
Dreimal donnert's zu des Jünglings Rechten,
Und ſo ſchallts zu ſeinem Ohr:

"Thörichter! was wagſt du zu begehren?
Was verlangt dein frevler Uebermuth?
Konnte ſo der Hochmuth dich bethören,
So dich blenden eitler Wünſche Glut?
Gab dir nicht des Vaters weiſes Schweigen
Seiner Liebe vollſte Sicherheit?
Konnt' es nicht des Flehns Gefahr dir zeigen,
Die dich nun dem Orkus weiht?"

"Ja, dem Orkus! Nur durch's Reich der Schatten
Windet ſich zu dem Olymp die Bahn.

Kann

Kann ſich Gottheit auch und Menſchheit gatten?
Kann der Staub auch Hebe's Kuſs empfahn?
Selbſt Herakles, des Nemäiſchen Leuen
Hoher Sieger, er, Kronions Sohn,
Muſste ſich dem Flammentode weihen,
Eh' ihm Gottheit ward zum Lohn.

"Nimmer hätte deines Wahnſinns Grille
Dir des Vaters weiſ rer Blick genährt;
Doch des hohen Schickſals ew'ger Wille
Wird von Göttern ſchweigend ſelbſt verehrt.
Ja, zur Warnung hat es dich erkohren.
Beugt nicht dies den Sinn dir niederwärts;
Warnung allen, die ein Weib gebohren,
Sey dann — und des Vaters Schmerz."

"Eile dann — dies iſt die einz'ge Lehre,
Die des Schickſals Strenge dir vergönnt —
Ehe Morgen von dem dunkeln Meere

Sich das Land von Licht und Schatten trennt;
Deiner harrt, wenn Eos Rosenfinger
Aufgethan des Himmels goldnes Thor,
Mein Gespann; dann sey der That Vollbringer,
Fliege zum Olymp empor!"

Jetzo schwieg's. Frohlockend der Erhörung
Seines Flehns, springt Phaethon empor.
Nicht des Gottes Dräun, nur die Gewährung
Seiner heifsen Sehnsucht schwebt ihm vor.
Froh verläfst er nun die heil'gen Hallen,
Die voll bangen Kummers er betrat,
Und des Dankes süfse Opfer wallen
Zu der Götter hohem Rath.

Und schon senkt mit thauigem Gefieder
Von den Felsenhöhen sich die Nacht
Duftend auf das milde Thal hernieder;
Alles schlummert, nur der Jüngling wacht,
Vor dem Aug' des kühnen Heliaden

Fliehet ſchüchtern die vertriebne Ruh;
Und kaum ſieht im Meer er Lunen baden,
Eilt er flugs dem Strande zu.

Schon von ferne ſchimmert ihm entgegen
Phöbos Wagen, Phöbos Viergeſpann,
Muthig ſieht er ſich die Roſſe regen,
Und ſchon fliegt im Geiſt' er Himmel an.
Ungeduldig heben ſie die Flügel,
Tellus zittert unter ihrem Huf.
Kühn ergreift jetzt Phaethon die Zügel,
Und ſie folgen ſeinem Ruf.

Majeſtätiſch, wie auf Meereswogen
Schwebt einher der königliche Schwan,
Hebet ſich zum hohen Himmelsbogen
Jetzt der Wagen durch die ſteile Bahn,
Langſam hebt der Zug ſich, Phöbos Lenkung
So wie geſtern wartend; doch er ſpührt

Leichtlich an der Zügel niedrer Senkung,
Daſs kein Gott die Zügel führt.

Aber Phaethon, jetzt nah dem Ziele,
Schwimmt in einem Wonnemeer von Luſt;
Ihn durchſchauern himmliſche Gefühle,
Reinern Aether trinkt die volle Bruſt.
Nun entkerkert aus der Erde Schranken
Fleugt er auf zu ſeines Ahnherrn Thron,
Naht ſich kühnen Schwungs und ſonder Wanken,
Fühlt ſich ganz Apollons Sohn.

Schon entſchwindet ſeinem Blick die Erde,
Ihn erreicht ihr trüber Dunſt nicht mehr;
Raſcher treibt er jetzt die Sonnenpferde,
Ungeduldig ſchweift ſein Aug' umher.
Götterodem glaubt er ſchon ihm wehen,
Duftend von Ambroſia ſein Haar,
Achtet nur der lang' erſehnten Höhen,
Nicht der drohenden Gefahr.

Doch die Roſſe fühlen kaum den Wagen
Leichter, merken den unkund'gen Muth,
So beginnen ſie erzürnt zu jagen,
Unaufhaltſam treibt ſie ihre Wuth;
Drohet bald der Götter hohe Sitze
Zu zerſtören, aber bald auch droht
Des verirrten Wagens nahe Hitze
Tellus Untergang und Tod.

Da erſchrickt der Jüngling, und die Zügel
Sinken aus des Todumringten Hand.
Und die Roſſe ſchwingen hoch die Flügel
Suchend ihr Olympiſch Vaterland.
Doch bald kehrt des Jünglings Kühnheit wieder,
Und ſelbſt in des Todes Angeſicht
Beuget nichts den hohen Geiſt danieder,
Selbſt der Zorn der Götter nicht.

"Vater, rief er, ja, mir wird zum Lohne
Was du ſprachſt mit hoher Wiſſenſchaft.

Doch warum gabſt du dem Götterſohne
Göttermuth und nicht auch Götterkraft?
Aber auch der Tod in dieſen Höhen
Iſt mir mehr als Tellus ſchönſter Lohn,
Ha Triumph! Erhöret iſt mein Flehen —
Und ſo ſterbe Phaethon!"

Sprach's. Da öfnet ſich mit lautem Krachen
Des Olympos lichtumſtrahltes Thor.
Götterglanz, nicht anzuſchaun dem Schwachen
Bricht von Jovis goldnem Thron hervor.
Schnaubend ſtürzen da die Sonnenpferde
Abwärts, Donner rollt, ein Feuerguſs
Triſt den Jüngling, ſchleudert ihn zur Erde
Tief in den Eridanus.

Gries.

# Zueignung
## des
## Trauerſpiels Romeo und Julia.

Nimm dieſs Gedicht, gewebt aus Lieb' und Leiden,
Und drück' es ſanft an deine zarte Bruſt.
Was dich erſchüttert, regt ſich in uns beyden,
Was du nicht ſagſt, es iſt mir doch bewuſst.
Unglücklich Paar! und dennoch zu beneiden;
Sie kannten ja des Daſeyns höchſte Luſt.
Laſs ſüſs und bitter denn uns Thränen miſchen,
Und mit dem Thau der Treuen Grab erfriſchen.

Den Sterblichen ward nur ein flüchtig Leben:
Dieſs flücht'ge Leben, welch ein matter Traum!

Sie tappen, auch bey ihrem kühnſten Streben,
Im Dunkel hin, und kennen ſelbſt ſich kaum.
Das Schickſal mag ſie drücken oder heben:
Wo findet ein unendlich Sehnen Raum?
Nur Liebe kann den Erdenſtaub beflügeln,
Nur ſie allein der Himmel Thor entſiegeln.

Und ach! ſie ſelbſt, die Königin der Seelen,
Wie oft erfährt ſie des Geſchickes Neid!
Manch liebend Paar zu trennen und zu quälen
Iſt Haſs und Stolz verſchworen und bereit.
Sie müſſen ſchlau die Augenblicke ſtehlen,
Und wachſam lauſchen in der Trunkenheit,
Und, wie auf wilder Well' in Ungewittern,
Vor Todesangſt und Götterwonne zittern.

Doch der Gefahr kann Zagheit nur erliegen,
Der Liebe Muth erſchwillt, je mehr ſie droht.
Sich innig feſt an den Geliebten ſchmiegen,
Sonſt kennt ſie keine Zuflucht in der Noth.

Entſchloſſen ſterben oder glücklich ſiegen,
Iſt ihr das erſte, heiligſte Gebot.
Sie fühlt, vereint, noch frey ſich in den Ketten,
Und ſchaudert nicht, bey Todten ſich zu betten.

Ach! ſchlimmer drohn ihr lächelnde Gefahren,
Wenn ſie des Zufalls Tücken überwand.
Vergänglichkeit muſs jede Blüth' erfahren:
Hat aller Blüthen Blüthe mehr Beſtand?
Die wie durch Zauber feſt geſchlungen waren,
Löſt Glück und Ruh und Zeit mit leiſer Hand,
Und, jedem fremden Widerſtand entronnen,
Ertränkt ſich Lieb' im Becher eigner Wonnen.

Viel ſeliger, wenn ſeine ſchönſte Habe
Das Herz mit ſich ins Land der Schatten reiſst,

Wenn dem Befreyer Tod, zur Opfergabe,
Der ſüſse Kelch noch kaum gekoſtet flenſt.
Ein Tempel wird aus der Geliebten Grabe,
Der ſchirmend ihren heil'gen Bund umſchleuſst.
Sie ſterben: doch im letzten Athemzuge
Entſchwingt die Liebe ſich zu höhermFluge.

Dieſs mildert dir die gern erregte Trauer,
Die Dichtung führt uns in uns ſelbſt zurück.
Wir fühlen beyd' in freudig ſtillem Schauer;
Wir ſagen es mit ſchnell begriffnem Blick:
Wie unſers Werths iſt unſers Bundes Dauer,
Ein ſchön Geheimniſs ſichert unſer Glück.
Was auch die ferne Zukunft mag verſchleyern,
Wir werden ſtets der Liebe Jugend feyern.

A. W. Schlegel.

## An Mignon.

Ueber Thal und Fluſs getragen
Ziehet rein der Sonne Wagen,
Ach! ſie regt in ihrem Lauf,
So wie deine, meine Schmerzen,
Tief im Herzen,
Immer morgens wieder auf.

Kaum will mir die Nacht noch frommen,
Denn die Träume ſelber kommen
Nun in trauriger Geſtalt,
Und ich fühle dieſer Schmerzen,
Still im Herzen,
Heimlich bildende Gewalt.

Schon ſeit manchen ſchönen Jahren
Seh ich unten Schiffe fahren,
Jedes kommt an ſeinen Ort,
Aber ach! die ſteten Schmerzen,
Feſt im Herzen,
Schwimmen nicht im Strohme fort.

Schön in Kleidern muſs ich kommen,
Aus dem Schrank ſind ſie genommen,
Weil es heute Feſttag iſt;
Niemand findet daſs von Schmerzen,
Herz im Herzen,
Grimmig mir zerriſſen iſt.

Heimlich muſs ich immer weinen,
Aber freundlich kann ich ſcheinen
Und ſogar geſund und roth;
Wären tödtlich dieſe Schmerzen
Meinem Herzen,
Ach ſchon lange wär ich todt.

Goethe.

## Lied auf dem Rigiberg *)
gesungen.

O süsse Ruh im Tannenwalde
Fern ob dem See,
An Rigibergs grüner Halde
Auf luft'ger Höh!

O weisse Berg' in Aetherbläue!
Du dunkle Fluth,
Wo tief der Häupter hohe Reihe
Im Abbild ruht!

In schimmernd grünen Alpenwiesen
Ein Sorgenfrey —
Liegt hier im Schirm des Felsenriesen
Die Sennerey.

*) Ein Alpenberg zwischen Zug, Lucern und Schweiz, so vortheilhaft hingestellt, dass man von seinem Gipfel eine der umfassendsten Aussichten Helvetiens überblickt. Drey Seen die von Lucern und Zug, und der von Lowerz, bespühlen seinen Fuss.

Der Rinder Glocke tönt von Weiten
Im Wieſenplan —
Es ſchallt des Kirchleins Feyerläuten
Den Berg hinan.

Die bunte Ziegenheerde klettert
Im Felsgeklüft;
Des rauhen Hifthorns Ton durchſchmettert
Das Ferngedüft.

Es ſpielt des Felsborns muntres Rieſeln
Am Hüttchen hin,
Es wölbt ſich über Moos und Kieſeln
Ein Baldachin.

O kühle Stäte, Schattendüfte
Im Fichtengrün!
Wo friſche, rege Sommerlüfte
Den Hain durchziehn!

Hier fliefst mein Blut in ſanftern Wellen
Dem Herzen zu!
Hier ſtrömt aus tauſend offnen Quellen
Mir Seelenruh!

Hier wo des Schreckhorns*) kalte Stirne
Die Ros' umſchwebt!
Und um des Glärniſch**) hohe Firne
Ein Goldduft bebt!

Wo hoch in blauen Finſterniſſen
Von Nacht umgraut,
Tief in zerborſtner Felſen Riſſen
Der Adler baut!

In jenes Berggeländes Falte
Der Nebel weilt,
Bis des Geklippes ſcharfe Spalte
Den Dunſt zertheilt!

*) Bekantlich eines der höchſten unter den Urgebirgen des Kantons Bern.
**) Das höchſte Gebirge von Glarus.

Wo ſtolz in eigner Felſen Schatten
Pilatus *) ſtarrt,
Der nur mit blaſſer Alpen Matten
Gegürtet ward!

Wo hinter ſeinen Klippenzinken
So kühn als frey,
Des Entlibuchers**) Schwerdter blinken
Dem Bunde treu!

Horch wie des Bergſtroms wildes Toſen
Zum Liſpel wird!
Wie ſanft er dort mit leiſem Koſen
Die Trift durchirrt!

*) Mons Pileatus, im Kanton Lucern.

**) Eine in der Schweitzer-Geſchichte durch Tapferkeit und Treue berühmte Völkerſchaft Helvetiens.

Hier fern von aller Welt geſchieden
Mein ſelbſt bewuſst,
Athm' ich Geſundheit, Kraft und Frieden
Aus freyer Bruſt!

Hier ſchwebt mein Geiſt im Aetherlichte
Des Späthroths hin.
O, das erzählt Euch kein Gedichte,
Wie froh ich bin!

Friederike Brun.

## Guidos Aurora.

Die Sonne ſteigt in Oſten licht empor;
Von goldnem ſchimmernden Gedüft umfloſſen,
Schwebt Eos ihrem Wagen lächelnd vor;
Der Himmel glüht mit Purpur übergoſſen.
Die ſtolzen Schaumbedeckten Roſſe fliehn
Hoch über Wolken mit verhängtem Zügel,
In Eos mildem lieblichen Karmin
Verklären ſich die dunkeln Blumenhügel.
Fern bricht ſich auf des Meeres düſterm Blau
Nur dämmernd noch ihr ſanfter Purpurſchimmer,
Aus ihren Locken träufelt friſcher Thau,
Die Sterne fliehn mit ſterbendem Geflimmer.
Sie ſieht zurück, der Sonne goldnen Glanz
Strahlt heller noch ihr ſchönes Antlitz wieder,

Die jungen Horen ſtreun im leichten Tanz
Bethaute Blumen auf die Gegend nieder.
O Guido, welche Götterkraft iſt dein!
Welch eine Glut! wie lächeln die Gefilde!
Die Göttin ſelbſt entzückt vom Wiederſchein
Der eignen Gottheit weilte vor dem Bilde.
So hat noch nie mit zauberiſcher Macht
Des Pinſels Glut zum Himmel uns erhoben,
So ſanft aufs dämmernde Gewand der Nacht
Des Morgens lichte Roſen nie gewoben.
Für den Geliebten bat an Jovis Thron
Die Göttin einſt ein ewig neues Leben;
O Guido, dir hat, eh ſie flehte, ſchon
Aurorens Bild Unſterblichkeit gegeben.

Louise ***

## Der Gott und die Bajadere

*Indiſche Legende.*

Mahadöh, der Herr der Erde,
Kommt herab zum ſechstenmal,
Daſs er unſers gleichen werde,
Mit zu fühlen Freud und Quaal.
Er bequemt ſich hier zu wohnen,
Läſst ſich alles ſelbſt geſchehn,
Soll er ſtrafen oder ſchonen,
Muſs er Menſchen menſchlich ſehn.
Und hat er die Stadt ſich als Wandrer betrachtet,
Die Groſsen belauert, auf Kleine geachtet,
Verläſst er ſie Abends um weiter zu gehn.

Als er nun hinausgegangen
Wo die letzten Häuſer ſind,
Sieht er, mit gemahlten Wangen,
Ein verlohrnes ſchönes Kind:
Grüſs dich Jungfrau! — dank der Ehre,

Wart, ich komme gleich hinaus —
Und wer biſt du? — Bajadere!
Und dies iſt der Liebe Haus.
Sie rührt ſich die Cymbeln zum Tanze zu ſchlagen,
Sie weifs ſich ſo lieblich im Kreiſe zu tragen,
Sie neigt ſich und biegt ſich und reicht ihm den Strauſs.

Schmeichelnd zieht ſie ihn zur Schwelle,
Lebhaft ihn ins Haus hinein.
Schöner Fremdling, lampenhelle
Soll ſogleich die Hütte ſeyn,
Biſt du müd', ich will dich laben,
Lindern deiner Füſse Schmerz;
Was du willſt das ſollſt du haben,
Ruhe, Freuden oder Scherz.
Sie lindert geſchäftig geheuchelte Leiden,
Der Göttliche lächelt, er ſiehet, mit Freuden,
Durch tiefes Verderben ein menſchliches Herz.

Und er fordert Sclavendienſte
Immer heitrer wird ſie nur,
Und des Mädchens frühe Künſte
Werden nach und nach Natur.
Und ſo ſtellet nach der Blüthe
Bald und bald die Frucht ſich ein,
Iſt Gehorſam im Gemüthe
Wird nicht fern die Liebe ſeyn.
Aber ſie ſchärfer und ſcharfer zu prüfen
Wählet der Kenner der Höhen und Tiefen
Luſt und Entſetzen und grimmige Pein.

Und er küſst die bunten Wangen
Und ſie fühlt der Liebe Quaal,
Und das Mädchen ſteht gefangen,
Und ſie weint zum erſtenmal,
Sinkt zu ſeinen Füſsen nieder
Nicht um Wolluſt noch Gewinnſt,
Ach und die gelenken Glieder
Sie verſagen allen Dienſt.

Und ſo zu des Lagers vergnüglicher Feyer,
Bereiten den dunklen behaglichen Schleyer
Die nächtlichen Stunden das ſchönſte
Geſpinnſt.

Spat entſchlummert unter Scherzen,
Früh erwacht nach kurzer Raſt,
Findet ſie an ihrem Herzen
Todt den vielgeliebten Gaſt,
Schreyend ſtürzt ſie auf ihn nieder,
Aber nicht erweckt ſie ihn,
Und man trägt die ſtarren Glieder
Bald zur Flammengrube hin.

Sie höret die Prieſter, die Todtengeſänge
Sie raſet und rennet und theilet die Menge.
Wer biſt du? was drängſt du zur Grube
dich hin?

Bey der Bare ſtürzt ſie nieder,
Ihr Geſchrey durchdringt die Luft:

Meinen Gatten will ich wieder!
Und ich ſuch ihn in der Gruft.
Soll zu Aſche mir zerfallen
Dieſer Glieder Götterpracht?
Mein! er war es, mein vor allen!
Ach! nur eine ſüſse Nacht!
Es ſingen die Prieſter: wir tragen die Alten,
Nach langem Ermatten und ſpätem Erkalten,
Wir tragen die Jugend noch eh ſies gedacht.

Höre deiner Prieſter Lehre:
Dieſer war dein Gatte nicht,
Lebſt du doch als Bajadere,
Und ſo haſt du keine Pflicht.
Nur dem Körper folgt der Schatten
In das ſtille Todenreich
Nur die Gattin folgt dem Gatten
Das iſt Pflicht und Ruhm zugleich.
Ertöne Trommete zu heiliger Klage
O!

O! nehmet ihr Götter die Zierde der Tage,
O! nehmet den Jüngling in Flammen zu euch.

So das Chor, das ohn Erbarmen
Mehret ihres Herzens Noth,
Und mit ausgeſtreckten Armen
Springt ſie in den heiſsen Tod,
Doch der Götter-Jüngling hebet
Aus der Flamme ſich empor,
Und in ſeinen Armen ſchwebet
Die Geliebte mit hervor,
Es freut ſich die Gottheit der reuigen Sünder,
Unſterbliche heben verlohrene Kinder
Mit feurigen Armen zum Himmel empor.

Goethe.

# Die Mode.

Ueber die ſterblichen Menſchen, von einem Pole zum andern,
Waltet die Mode, und weit dehnt ſich ihr mächtiges Reich.
Oefters ſchwinget die Hand despotiſch den ehernen Scepter,
Oft auch neiget ſie ſanft roſenumwunden den Stab.
Nur wie es wohl ihr gefällt und wie's zur Stund' ihr gelüſtet,
Schlingt ſie bald grazienhaft, bald auch als Kette das Band
Um die gehorchende Welt; denn ſeit Aſtraea den Erdball
Floh, beherrſcht ihn die Mod' an der Unſterblichen Statt.
Wechſelnd und ohne Beſtand ſind ihrer Willkühr Geſetze,

Welche nach Laune doch oft, auch was veraltet, erneut;
Hier zum milderen Süd den rauhen Norden verwandelt,
Dort in dem südlichen Land Nordens Gebräuche gebeut.
Lange beherrschte sie streng mein Vaterland, traurige Bande
Fesselten es, sie bestritt feindlich die schöne Natur.
Sie verhüllte die Locken der Jungfrau mit lästigem Zierrath,
Zwang mit entstellender Kunst aufwärts das Haar sich zu drehn.
Barg in dem weiten Gerüst' der Hüften liebliche Schlankheit,
Hemmte den Grazien-Gang und den geflügelten Schritt.
Dicht gefaltet und eng, in neidisch bergender Fülle,

Rauſchte das ſchwere Gewand zierliche Rücken hinab,
Dennoch beugte die Schönheit mit folgſam geſchmeidigem Nacken
(Beſſeres kannte ſie nicht) ſich dem tyranniſchen Joch.
Aber wie ſchnell hat ſich rings um alles gewandelt! — Die Göttin
Bildet' in attiſche Frau'n jetzt ihre Dienenden um.
Freundlich reichet ſie ihnen die zarten weiſſen Gewänder,
Reicht das goldene Band wallenden Locken zum Schmuck.
"Nehmet blühende Mädchen, ſo ſpricht ſie, die ſchöneren Gaben
"Aus der Gebieterin Hand, welche die Treue belohnt;
"Schauet die reizende Tracht!" Sie zierte Griechenlands Jungfraun

"Die auch auf meinem Altar liebliche
Opfer geſtreut.
"Lange prüft' ich euch ſchon, ihr folgtet
mit blindem Gehorſam
"Selbſt dem verkehrten Befehl, war es Ge-
bot nur von mir,
"Aber hinfort ſoll euch nicht die blinde
Laune gebieten,
"Friedlich herrſch' ich zugleich nun mit
der holden Natur,
"Schöner erſcheine durch mich dem Lie-
benden jetzt die Geliebte
"Sittſam mit einfachem Reiz, in dem be-
ſcheidnen Gewand,
"Wie vor der Jünglinge Blick in Hellas
blühenden Thälern
"Himmliſcher Grazie voll jegliche Jung-
frau erſchien,
"Lieb' und freudiges Staunen im Buſen er-
regend." Die Mode

Sprach es und eilend ergriff jede das
schöne Geschenk.
Aber — war's ein Versehn der sorglos tän-
delnden Göttin,
Welche mit flüchtigem Fuss rastlos den
Erdball umschweift,
War es sträflicher Muthwill der Gauklerin,
dass sie beim Geben
Nur der griechischen Frau'n züchtigen
Schleyer vergass?

F.

## Die entführten Götter.

O Römerinnen, Römer nicht!
Wo ist die Heldenkraft der Ahnen?
Vergessen habt ihr Nahmen, Ruhm und Pflicht,
Und tief erröthen jene grosen Manen.

Mit blödem Wahn von euch verehrt,
Verräth ein Priester eure Götter?
Für uns zu sterben macht euch unser werth:
Der Feig' allein erkennt uns nicht als Retter.

Du, ewig nun zu eigner Schmach!
Leb wohl, o Stadt der sieben Hügel!
Bald stürzt dein ödes Pantheon uns nach,
Uns aber leiht der Sieg die leichten Flügel.

Vom Himmel lockten uns herab
Die freundlich bildenden Hellenen;

Von uns empfangend, was ihr Sinn uns gab,
Vermählten sie das Göttliche dem Schönen.

Als Freyheit mit der Tugend starb
Erloschen Hellas Rosenschimmer,
Und Stärke, die ein grauses Recht erwarb,
Stiefs den Altar der holden Kunst in Trümmer.

Doch sahn wir, im Vernichten gross,
Mit Lust, der Wölfin Pflegesöhne;
Wir theilten gern der hohen Roma Loos,
Dass sie uns Herrscher über Herrscher kröne.

In der Triumphe Prachtgewühl
Empfing Quirinus seine Brüder;
Das Kapitol ward ein Olymp: da fiel
Vor seinem Raub der Sieger betend nieder.

Zeus Adler flog dem Heer voran,
Er thronte, der Gesetze Wächter. —

Senat und Volk ward Einem unterthan,
Und ſchnell entartet ſanken die Geſchlechter.

Wild ſchwärmten an der Tiber Strand
Des Nordens Rieſen, ſie zu ſtrafen.
Von Knechten und Barbaren abgewandt
Schien ein Jahrtauſend unſre Macht zu
ſchlafen,

Bis mit dem jungen Morgenroth
Entwohnte Hymnen uns umwallen.
Es war die Kunſt, die Huldigung uns bot,
Und neue Feſte, neue Tempelhallen.

Auf! feſsle jetzt uns noch, o Rom,
Durch groſse Thaten, ſchöne Werke!
Verſank auf ewig in der Zeiten Strom
Der Bildner Geiſt, ſo wie der Helden Stärke?

In dumpfer Trägheit Nebelduft
Prahlſt du mit gähnenden Ruinen:

Du bist der Vorwelt eingesunkne Gruft,
An der noch Rosen blühn, noch Lorbern
grünen.

Ihr aber, die ihr, siegberauscht,
Ausoniens myrtumkränzte Fluren
Gleich euerm Rhodan wogend überrauscht,
Und einem Brennus folgt auf Brennus
Spuren!

Ruft uns mit reiner Opfer Glut,
So soll euch unsre Huld belohnen.
Allein ihr trotzet in der Freyheit Hut,
Und wollt uns zwingen, unter euch zu
wohnen?

Habt ihr für uns ein Heiligthum?
Und läßt sich Hellas Reiz erfechten?
Sind Götter auch ein menschlich Eigenthum?
Ihr geizt umsonst nach des Olympus
Mächten!

Wer würdig uns zu ehren weifs,
Trägt uns in feiner Bruft, fein eigen.
Doch trittft du ungeweiht in unfern Kreis,
So deckt uns Nacht und die Orakel
fchweigen.

A. W. Schlegel.

## Liebe und Hofnung.

In der Liebe Wunden träufelt
Hofnung ihren Balfam oft,
Aber wo Vernunft verzweifelt,
Ach da feufzet Lieb' und hofft.

B.

# Elegien.

## *Erſte.*

Süſs iſt Amors verbotene Frucht, und ſüſs iſt das Mädchen,
Das verſtohlen mich küſst, froh mich und ſeeliger macht!
Wenn ihr Oheim bedächtig die häusliche Rechnung durchſiehet
Grollend findet, daſs ſie allzuviel ſpende im Haus,
Dreht ſie, rückwärts ſehend, das ſchwarze ſchalkhafte Auge,
Winkend nach mir, und ich kenne den ſchelmiſchen Wink,
Nahe mich ernſthaft dem ehrbaren Manne mit wichtiger Miene
Spreche von Frieden und Krieg, von dem verſchlagenen Volk,

Von der Höfe Betrug, von weiſen Miniſtern und Fürſten,
Von Buonaparte's Kampf, Mantua's nahem Entſatz,
Neben mir ſtehet das Mädchen, die Augen lieblich geſenket,
Beiſst ſich lachend den Mund, ſchielt von der Seite mich an.
Jetzt geräth der Oheim in Eifer, erſchmähet die Fürſten
Tadelt heftig das Volk, ſchilts ein verräthriſches Pack,
Sagt ſein kluges Bedünken, woran es fehlet, was jetzo
In der kritiſchen Zeit ungeſäumt wäre zu thun.
Das hat er lang ſchon geſagt, vorhergeſehen ſchon lange,
Thut man nicht, was er weiſs, ja ſo iſt alles dahin!

Nun ergreift er den Hut, wir ſehen mit ſtockendem Odem
Aengſtlich harrend ihm nach, ob er wohl kehre zurück,
Und nun faſst er die Pfoſte, er öffnet die Thüre, er ſchlieſst ſie
Ausgebreitet den Arm, wend' ich behend mich herum,
Und mit frohem Entzücken fliegt Nina mir in die Arme,
Ihre pochende Bruſt ſtrebt an der meinen empor.
Ach, wir liebten uns lange, und durften's lang nicht geſtehen,
Doch der Herzen Begier ſprach der beredtere Blick,
Siehe' da laſen wir einſt im Buche des göttlichen Dante,
Wie die Liebe ſo leicht zweier Herzen ereilt.

Laſen die Seufzer Franceſca's, und ihre Thränen im Orkus,
Und wir weinten mit ihr, fühlten Paolo's Qual,
Als wir dahin geleſen, wo ſittſam das Mädchen erzählet,
Wie ſie Amor verrieth, Paolo zitternd ſie küſst,
Da umwand ich das Mädchen, und wagte was Paolo gewaget,
Drückte den feurigſten Kuſs ihr auf den ſeufzenden Mund,
Von dem ſchönſten Gefühl, von meinem Feuer ergriffen
Sank ihr holdes Geſicht ſtill auf das meinige hin,
Ihre Seele ſchien ſeufzend der ſchönen Bruſt zu entfliehen,
Und im durſtigen Kuſs ſaugt' ich den Flüchtling in mich.

Seufzend rief ich: o Nina! — da ſtarb im
Drang der Empfindung
Jeder ſtammelnde Laut mir auf den Lip-
pen dahin.
Halte die rollenden Räder Saturnus, Füh-
rer der Stunden
Hemme den eilenden Lauf, ſtürzend
entfliehende Zeit,
Aber neidend den Anblick dreht ſchneller
Saturnus die Räder
Wohnt der häſsliche Neid auch in gött-
licher Bruſt?

## *Zweite Elegie.*

Freund, du ſchiltſt vergebens: "O ſpare
die köſtlichen Stunden
"Keine Reue bringt, ach, die entflohnen zurück!
"Kurz iſt das Leben und lange die Kunſt,
ſo ſagten die Alten,

"Darum wacker mein Freund! laſſe den kindiſchen Tand!
"Wähle die ernſte Minerva, ſtatt Venus tändelndem Buben,
"Der mit gebundenem Aug' dich nur auf Abwege führt."
Halt! ich fühle die Wahrheit, den Werth der wandelnden Horen,
Ich bezeichne ſie gern, eh ſie mir ſchlüpfend entfliehn.
Jeder flecht' ich gern zum Angedenken ein Kränzchen,
Sehe mit ſeliger Luſt auf die Bekränzten zurück.
Die bekränz' ich nicht, die keuchend langſam entſchleichen,
Deren laſtender Gang Schweiſs von der Stirne nur lockt,
Bin ich zur Arbeit geſchaffen? und ſoll ich nicht auch genieſsen?

Wenn nach mühvollen Tag winket die fröhliche Nacht,
Wenn ſie traulich des Abends in meinem Arme ſich wieget,
Vor uns ein kniſterndes Licht flammt mit verglimmendem Docht,
Wie das Girren der Taube, ſo lockt ſie mit zierlichem Finger
Aus der dumpfen Mandol einzelne Töne der Luſt.
Und ich ſtöre ſie immer, ich wiege mit bebenden Armen,
Stets auf dem Lichte den Blick, zärtlich die ſüſseſte Laſt.
Ach nun will es erlöſchen, noch einmal leuchtet die Flamme
Und ein plötzlicher Blitz läſst uns im Dunkel zurück.
Ha! jetzt faſs' ich das Mädchen, jetzt leuchtet die liebliche Fackel
Amors Fackel mir vor, Dank dir freundliches Kind!

## *Dritte Elegie.*

Mädchen, komm in die Vigne, am ſchönſten Tag des October,
Laſs jetzt Nadel und Rahm, Mädchen, uns rufet die Luſt.
Laura wird uns begleiten, ihr Bräutgam der wackre Philippo
Bringt den Wagen mit ſich, flügelſchnell rollen wir hin.
Luſtig Nina! Meſſera iſt fern und niemand beſchwert uns,
Und wir kürzen den Tag unter Geſängen und Spiel,
Abends fahren wir dann bey Fackelſcheine nach Hauſe,
Daſs die nächtliche Straſs' tönt von dem bacchiſchen Feſt.
Winzer und Winzerin jubelt, es ſchallet die klappernde Trommel,
Und der muntere Tanz ladet uns ſelber auch ein,

Und wir miſchen uns unter das luſtige Völkchen, wir theilen
Ihren ländlichen Scherz, hören der Freude Geſchrey,
Laut ertönt der Geſang des Winzers, er ſchwinget die Fackel,
Funken ſprühen umher, glänzend erſcheinet die Nacht.
Emſig ſchüttelt die klingenden Eiſen das luſtige Mädchen,
Und in luſtigem Sprung wirbelt der Tänzer um ſie,
Evoe! tönts durch die Büſche, die Jubelſtimme der Freude
Füllen Reben und Hain laut mit Menadiſchem Lärm.
Nimm die Zither, mein Mädchen, ſchon kömmt Philippo gefahren,
Eile, gieb mir die Hand, munter, mein Liebchen, voran.

Amor und Bacchus, ihr lieblichen Knaben,
ihr Geber der Freude,
Nehmet mein Mädchen und mich wirthlich unter euch auf.

## *Vierte Elegie.*

Nackt sind die Reben und schon vorbey die Lese, wir kehren
Früchtebeladen zurück in das erbrausende Rom;
Süsse Büsche, lebt wohl und ihr verschwiegene Schatten,
Du Blandusias Quell, Anio's murmelnder Strom,
Dunkle Lauben lebt wohl, wo oft in süsser Umarmung
Luna und Hesper uns fand, wo uns Aurora geweckt,
Reizende Hügel lebt wohl und Dank dir Amor und Bacchus,

Freundliche Demeter dir, bleibet un-
gnädig und hold.
Dieſen kleinen Altar hab ich mit Nin-
errichtet,
Und wir weihten ihn Euch, Freude-
bringende Drey!
Dieſen Kuchen, ihn hat mit zierlichen
Händen mein Mädchen
Selbſt geknetet, und dieſs Bildchen,
wir opfern es euch.
Dieſes Bildchen, ich hab es mit fleiſsigen
Händen aus Wachſe
Künſtlich geformt, o nehmt, Himm-
liſche, gütig es an.
Amor! es iſt dein Bild, du trägſt im weich-
lichen Händchen
Von der goldenen Frucht voll ein ge-
wundenes Horn.
Aehren der Ceres, und Trauben des Bac-
chus, das Horn Amalthea's
Aller Früchte, die ihr Liebenden lie-
bend geſchenkt.

Nina, es ſtirbt die Natur, entlaubt ſind Wälder und Büſche,
Im verödeten Feld jeglicher Jubel verſtummt,
Schon entkleidet der rauhe Nord die laubigten Grotten
Wo in zweifelndem Licht Amor ſich gerne verſteckt,
Traurig raſchelts im knitternden Laub und ſchauerlich ſtreichen
Ueber Stoppeln und Moor dumpfige Nebel dahin.
Ach es welkt die Natur, um lange Monden zu ſchlummern,
Bis ſie Amor aufs neu Blumenbekränzet erweckt,
Amor verläſst das Gefilde, wir nehmen den lieblichen Knaben
Freundlich mit in die Stadt, und er wird wohnen bey uns.

K.

## Der Garten zu Wörlitz.

Was für ein Zauber weilt auf dieſer Stelle?
Welch holder Wahn ſchleicht in die Bruſt ſich ein?
Sanft weht das Laub, harmoniſch rauſcht die Welle,
Und ſüſse Bilder wanken durch den Hain.

Wie wallt das Thal, bewegt von leichten Schatten,
Von klarer Flut und Sonnenſchein geküſst,
Wie lieblich hier ſich Luſt und Ruhe gatten!
Wie ſelbſt der Herbſt die Fluren mild ergrüſst!

Schon ſchmilzt, wo dort des Tempels Säulen glänzen,
Der Weide Grün zu leichtem gelbem Flor,
Hier hebt ſich noch mit friſchen Farbenkränzen
Der Eiche Laub in Jugendkraft hervor.

Am

Am fernen Hügel, wo der See sich kräuselt,
Glüht mancher Busch, von Purpur übermahlt,
Indeſs in blauer Luft die Pappel säuselt,
Das ſchöne Haupt von Silberglanz umſtrahlt.

Wie iſt auf dieſem zart bewegten Spiegel,
Wo Phöbus mild in jeder Welle lacht,
Die Fahrt ſo ſchön! wir landen froh am Hügel,
Und uns umfängt des Haines ſanfte Nacht.

Platanen wölben am umſchirmten Teiche
Ein Schattendach für heiſser Sonne Glut,
Sie neigen tief herab die ſchönen Zweige,
Und küſſen ſanft die ſtill verklärte Flut.

Welch' Jubeln tönt von jenem Ufer wieder?
Ein buntes Völkchen legt mit heiterm Sinn
Im hellen See die grauen Netze nieder,
Und ſchwebt auf leichten Kähnen her und hin.

Was ſind ſie hier, wo Luſt und Freiheit
wohnen,
Wo ſüſſer Friede unſre Stirn umkränzt,
Die Freuden, die in Königsſtädten thronen,
Die ſtolze Pracht, die in Palläſten glänzt?

Ein heitrer Geiſt beſeelet hier und hebet
Den todten Stoff zur Harmonie empor,
Und aus dem ſtillen Zwang der Regel ſtrebet
Natur mit freier ſchöner Kraft hervor.

Auch hier wohnt Kunſt: oft keimt aus öden
Steinen
Ein kleiner Garten wie durch Zaubermacht,
Und, ungeſehen dort dich auszuweinen,
Winkt dir der Grotte heimlich ſtille Nacht.

Am ſchwankem Seil ſpringt über feuchte
Gründe
Der Brücke Bogen leicht mit dir hinweg,

Und unvermerkt durch lockendes Gewinde
Führt heimlich dich ein unwirthbarer Steg.

Und immer tiefer ſenkt in ſtille Grüfte,
Wohin ein dürftig Licht nur ſparſam fällt,
Der Pfad ſich ein, und drängt ſich durch die Klüfte,
Die nur ein lockres Band zuſammenhält.

Bis, wo die Felſen ſich in Büſchen enden,
Ein Gärtchen dich umfängt, wo ſich das Licht,
Umſchirmt von ſteilen, moosbedeckten Wänden,
In milder Dämmerung ſchwermüthig bricht.

Hier faſſet dich mit leiſem Geiſterwehen
Ein ſtilles Grauen, dem getäuſchten Sinn
Scheint alles todt, du wirfſt dich ungeſehen
Und traurig auf bemooſte Steine hin.

O fliehe nicht der ſanften Trauer Stunden,
Verſchmähe nicht der Wehmuth ernſte Luſt!
Die Einſamkeit thaut Balſam auf die Wunden,
Und jedes Herz ſchlägt ſanfter in der Bruſt.

Oft bricht ſich durch der Schwermuth düſtern Schleier
Ein heil'ger Stral, der Hoffnung göttlich Kind,
Der Muth erwacht, die Herzen ſchlagen freier,
Die doch im Ahnden nur hienieden glücklich ſind.

Sophie Mereau.

## Die Worte des Glaubens.

Drey Worte nenn ich euch, innhaltſchwer,
Sie gehen von Munde zu Munde,
Doch ſtammen ſie nicht von auſſen her,
Das Herz nur giebt davon Kunde.
Dem Menſchen iſt aller Werth geraubt,
Wenn er nicht mehr an die drey Worte
glaubt.

Der Menſch iſt frey geſchaffen, iſt frey,
Und würd er in Ketten gebohren,
Laſst euch nicht irren des Pöbels Geſchrey,
Nicht den Misbrauch raſender Thoren,
Vor dem Sclaven, wenn er die Kette bricht,
Vor dem freyen Menſchen erzittert nicht.

Und die Tugend, ſie iſt kein leerer Schall,
Der Menſch kann ſie üben im Leben,
Und ſollt er auch ſtraucheln überall,
Er kann nach der göttlichen ſtreben,

Und was kein Verſtand der Verſtändigen ſieht,
Das übet in Einfalt ein kindlich Gemüth.

Und ein Gott iſt, ein heiliger Wille lebt,
Wie auch der menſchliche wanke,
Hoch über der Zeit und dem Raume webt
Lebendig der höchſte Gedanke,
Und ob alles in ewigem Wechſel kreiſst
Es beharret im Wechſel ein ruhiger Geiſt.

Die drey Worte bewahret euch, inhaltſchwer,
Sie pflanzet von Munde zu Munde,
Und ſtammen ſie gleich nicht von auſſen her,
Euer Innres giebt davon Kunde,
Dem Menſchen iſt aller Werth geraubt,
Wenn er nicht mehr an die drey Worte glaubt.

Schiller.

## Erinnerung.

Wenn die Reben wieder blühen
Rühret ſich der Wein im Faſse,
Wenn die Roſen wieder glühen,
Weiſs ich nicht wie mir geſchieht.

Thränen rinnen von den Wangen,
Was ich thue was ich laſſe,
Nur ein unbeſtimmt Verlangen
Fühl ich, das die Bruſt durchglüht.

Und zuletzt muſs ich mir ſagen,
Wenn ich mich bedenk und faſſe,
Daſs in ſolchen ſchönen Tagen
Doris einſt für mich geglüht.

Goethe.

# Tantalus.

## Ein Dramolet, auf dem Olymp.

Apoll und Merkur kommen heraus.

*Merkur.*

War das nicht eine herrliche Jagd,
Apoll, das mufst du doch geftehen,
Der Sterbliche hat uns Spafs gemacht!

*Apoll.*

Er fchnitt doch der Juno gegenüber,
Eine Figur, als hätt ers Fieber.
Zevs, den kützelt' es innerlich —
Aber fag mir, entzaubere mich.
Wo führt' ihn das böfe Wetter
Zu uns herauf an die Tafel der Götter?

*Merkur.*

Still, der Einfall kommt von mir.
Wollten Juno ein wenig pikiren,

Und Vater Jupitern desennuyiren,
War ja alles so traurig hier.

*Apoll.*

Ha ha ha! wie er da sass beklommen
Ganz in Nektar und Lieb verschwommen.
In ihrer Blicke Wiederschein
Meynt' er Jupiter selber zu seyn.

*Merkur.*

Nein, aber darüber ging doch nichts,
Der Meisterstreich, den er ausgehen liess,
Du hast es ja gesehn — der Schnitt des Gesichts,
Als er mit Zevs die Gesundheit stiess.

*Apoll.*

Die Gesundheit mit Zevs — wie ist das zu verstehn?

*Merkur.*

Ey so hast du ja nichts gesehn?
Vater Zevs, Vulkanen zu scheeren,
Stiess mit Mars die Gesundheit an:

Der ſchönſten Frau vom frömmſten Mann!
Meiſter Tantalus ſtiefs mit an.
Der Donnerer durfte ſein Glas nicht leeren,
Der ganze Olymp ſchien beſtürzt voll Verdruſs,
Nur nicht Meiſter Tantalus.

*Apoll.*

Was ſagte Juno?

*Merkur.*

Was ſollte ſie ſagen?
O das iſt noch nicht genug.
Haſt du denn nichts gehört, man ſchlug
Beym Nachtiſch einen Spatziergang vor,
Mein Tantalus über und über Ohr
Als Juno ſagte, ſie wollte im Garten
Die andern Göttinnen um zehne erwarten,
Sie ſetzte ſpöttiſch hinzu: es iſt warm,
Herr Tantalus giebt euch vielleicht den Arm.
Mein Tantalus nahm's in Ernſt und bückte
Bis unter den Tiſch ſich, rükte und rückte

Den Stuhl — dafs alles für Lachen erſtickte.
Bis ihn Juno zurechte wies,
Es ſey ihr Ernſt nicht — und er's liefs.

*Apoll.*

O ſtill, nun weifs ich, warum mit dem Alten
Cupido vorhin Kriegsrath gehalten.
Sie wollten eine Wolke ſtaffieren,
Ihn, wenn er heimgieng, zu intriguiren.
Still, da kommt er ſelber ja wohl,
Wenn ich nicht irre —

*Merkur.*

Er iſts Apoll.

*Tantalus* (tritt auf)

(Merkur und Apoll halten ſich ſeitwärts ihm zuzuhorchen.)

In dieſer freundlichen Sommernacht
Wo auſſer Feuerwürmchen und Heimchen
Kein Geſchöpf mehr neben mir wacht,
Niemand mich hört, als Myrthenbäumchen
Und die ſtillen Schauer der Nacht:

Hier wird es doch erlaubt seyn, das endlose Grauen
Die entzückende Beklemmung meines Herzens
Den ganzen Himmel meines Schmerzens
Nur mit einem Blick zu überschauen,
Und dir Allmutter Natur, zu vertrauen.
Ich liebe — darf ich mir selber es sagen?
Wohin die verirrteste Phantasey,
Wohin der Titanen Waghälserey
Nie kühn genug war, sich hinzuwagen,
Wagt mein verrätherisch Herz sich hin,
Ich liebe der Götter Königinn.
Es ist gesagt, ihr hörtet es Götter!
Auf denn, führt die rächenden Wetter
Ueber mein schuldiges sterbliches Haupt,
Euch ist die grausame Lust erlaubt.
Ihr selbst fachtet sie an diese Flammen,
Ihr die ihr darinn Trost suchen müsst,
Das an andern zu verdammen,

Was euer Lieblingsverbrechen iſt.
Da ſpart euren Witz in Erfindung der Strafen
Was euch unerträglich däucht,
Iſt gegen die Qualen, die hier noch ſchlafen,
Die ihr nicht ahnden könnt, Federleicht.
Empfandt ihr je verzweifelnde Triebe
Reicht eure Phantaſey dahin?
Ich bin ein Sterblicher und ich liebe
Liebe der Götter Königinn.

Indem er ſich umwendet, wird er eine Wolke gewahr, in Junos Bildung.

Sie iſts — ſie iſt es ſelbſt — o Himmel und Erde!
Sie hat es gehört das verwegne Geſtändniſs,
Ihr Blick wird mich tödten, ſie hat es gehört.
Sie ſieht mich nicht. Im hohen Selbſtgenuſſe
Luſtwandelnd unterm Schleyer der Nacht
Froh wie es ſcheint, daſs unter ihrem Fuſse
Die Erde ſchläft und kein Geſchöpf mehr wacht!

Das ſich zu ihrem Dienſt bemühte.
Hier wacht noch eins, unendliche Güte
In ſeliger Qualentrunkenheit —
Sie wendet ſich — O hat Mnemoſyne
Endimions Schickſal nicht geweiht?
O alle Strafen die ich verdiene
Gegen eine mitleidige Miene
Gegen einen Blick, der mir verzeyht —
Sie nähert ſich — Kam ſie wohl, weil die Nacht
Alle Verhältniſſe ähnlicher macht?
(er will ſich, ihr zu Füſsen werfen.)
Himmliſche Güte! verzeyhe, verzeyhe,
Jetzt oder nie, der Bewunderung
Des Entzückens verwegenſtem Schwung.
(das Bild verſchwindet)
Ha du fliehſt mich — Ungetreue!
Götter was ſprach ich? — Läſterung!
Meine Freundinn — die ſchlafende Erde
Ha ich fühls, bebt auf unter mir,

Macht ſich geflügelt auf, ich werde
Bald auf ewig verſchlungen von ihr.
Ach auf ewig entfernt von dir
In des Orkus Abgründe ſinken,
Zur Vollendung meiner Pein
Lethens kalte Fluthen trinken,
Und ohne Mitleid elend ſeyn. —
Wars nur ein Bild meiner Phantaſey?
Es iſt verſchwunden. Nimmer, nimmer!
Meine Thränen, mein Geſchrey
Meine Verzweiflung zieht ſie herbey.

(Das Bild erſcheint wieder. Er zieht eine Tafel heraus und fängt an, es abzuzeichnen.)

Leitet meine Züge, leitet,
Ihr von uns gefeyerten Spötter
Unſrer Leiden, die ihr bereitet,
Meine Züge, ſelige Götter!
Laſst durch keine Künſteleyn
Eure Zierde mich entweyhn.

( indem er zeichnet, verſchwindet das Bild.)

O muſs ich elend denn vor ſoviel Reitzen ſtehn,
Und, haſch' ich nach, ſie ſpottend fliehen ſehn?
Iſts möglich, elend in dem Grade!
Im Angeſicht ſo vieler Seligkeit
Erzürnte Götter! Gnade, Gnade!
Nur einen Augenblick, bis ich ſie konterfeyt!

(Das Bild erſcheint wieder; er zeichnet es nach.)

Laſſet euren Zorn erweichen,
Groſse Götter, hört mein Flehn,
Laſst mich dieſes Bild erreichen
Wenn ich werth war, es zu ſehn.
Ach ich ſolls euch wiedergeben
All mein Glück wird mir entwandt.
Strenge Götter! nehmt mein Leben,
Oder führet mir die Hand.
Nein, ihr hört mich nicht, Tyrannen

Ihr beneidt dies Bildniſs mir
Weil es milder iſt als ihr,
Weil ihm meine Thränen rannen,
Weil es meinen Geiſt erhebt,
Daſs er euch zu nahe ſchwebt.
Laſſet euren Zorn erweichen,
Groſse Götter, hört mein Flehn,
Laſst mich dieſes Bild erreichen,
Wenn ich werth war, es zu ſehn.

(Das Bild verſchwindet abermals. Er iſt auſſer ſich.)

Götter — (ſich an die Stirne ſchlagend)

*Amor* (erſcheint)

Ey, wie ſo fleiſsig Herr Tantalus?
Weiſen Sie doch her, was giebts da wieder?
Ich hörte, ſie riefen um Hülfe, drum ſtieg ich
Aus meiner Mutter Schooſs hernieder,
Ich dachte, was Ihnen begegnet ſeyn muſs!
Fehlt Ihnen was?

*Tantalus.*

Ich bin verloren
Ich bin zum Unglück beſtimmt, geboren —

*Amor.*

Haben Sie was —

*Tantalus.*

Zu Qual und Leid —

*Amor.*

Haben Sie was abkonterfeyt?

*Tantalus.*

Bin ich geboren, bin ich erkohren.

*Amor.*

Haben Sie etwa was verloren?
Vielleicht im Monde? — Ich helf' Ihnen ſuchen.
Hören Sie, weil Sie ſo artig fluchen —
Mein Vater iſt ganz bezaubert davon,
Sie wiſſen, Zevs iſt ein Mann vom Ton —
Läſst er ſie ganz ergebenſt erſuchen,
Sie möchten ihm künftig die Ehre erweiſen,

Alle Tage mit ihm zu ſpeiſen,
Mit ihm und Juno —

*Tantalus.*

Unſterblicher Retter!
Ewig ſey dir, ſchönſter der Götter,
Meiner Entzückungen Dank gebracht.

*Amor.*

Aber nehmen Sie ja ſich in Acht,
Nichts anzurühren, was Ihr nicht gehöret,
Nichts anzuſehn, was Ihre Ruhe ſtöhret,
Sonſt lieber Schatz! verſchwindet es ſogleich.
Ey warum macht ſie denn das ſo bleich?

*Tantalus.*

Nichts hören noch ſehen? —

*Amor.*

Nichts hören noch ſehen,
Wiewohl das Hören zuzugeſtehen
Jupiter kein Bedenken ſich macht,
Doch nur dann, wenn man ihrer lacht.
Sie ſollen überdem alle Nacht

Mit Junos Schatten ſpatzieren gehen,
Aber ſobald ſie auch nur nach ihm ſehen —

*Tantalus.*

Was ſoll ich denn? Nicht ſehen, nicht hören,
Nicht eſſen, nicht trinken —

*Amor.*

Wer ſagt denn vom Hören?
Und ein ächter Liebhaber muſs
Eigentlich nichts thun, Herr Tantalus,
Als den Göttern zur Farce dienen.
Leben Sie wohl; ich empfehl mich Ihnen.

Lenz.

## Nadoweſsiſche Todtenklage *).

Seht! da ſitzt er auf der Matte
Aufrecht ſitzt er da,
Mit dem Anſtaud den er hatte,
Als er's Licht noch ſah.

Doch wo iſt die Kraft der Fäuſte,
Wo des Athems Hauch,
Der noch jüngſt zum groſsen Geiſte
Blies der Pfeife Rauch?

Wo die Augen, Falkenhelle,
Die des Rennthiers Spur
Zählten auf des Graſes Welle,
Auf dem Thau der Flur.

Dieſe Schenkel, die behender
Flohen durch den Schnee,
Als der Hirſch, der Zwanzigender
Als des Berges Reh.

*) Nadoweſsier, ein Völkerſtamm in Nordamerika.

Dieſe Arme, die den Bogen
Spannten ſtreng und ſtraff!
Seht, das Leben iſt entflogen,
Seht, ſie hängen ſchlaff!

Wohl ihm! Er iſt hingegangen,
Wo kein Schnee mehr iſt,
Wo mit Mays die Felder prangen
Der von ſelber ſprieſst.

Wo mit Vögeln alle Sträuche,
Wo der Wald mit Wild,
Wo mit Fiſchen alle Teiche
Luſtig ſind gefüllt.

Mit den Geiſtern ſpeiſst er droben,
Lieſs uns hier allein,
Daſs wir ſeine Thaten loben,
Und ihn ſcharren ein.

Bringet her die letzten Gaben,
Stimmt die Todtenklag'!
Alles ſey mit ihm begraben,
Was ihn freuen mag.

Legt ihm unters Haupt die Beile
Die er tapfer ſchwang,
Auch des Bären fette Keule,
Denn der Weg iſt lang.

Auch das Meſſer ſcharf geſchliffen,
Das vom Feindeskopf
Raſch mit drey geſchickten Griffen
Schälte Haut und Schopf.

Farben auch, den Leib zu mahlen
Steckt ihm in die Hand,
Daſs er röthlich möge ſtrahlen
In der Seelen Land.

SCHILLER.

## Der Obelisk.

Aufgerichtet hat mich auf hohem Geſtelle der Meiſter,
Stehe, ſprach er, und ich ſteh ihm mit Kraft und mit Luſt.

## Der Triumphbogen.

Fürchte nicht, ſagte der Meiſter, des Himmels Bogen, ich ſtelle
Dich unendlich wie ihn in die Unendlichkeit hin.

## Die ſchöne Brücke.

Unter mir, über mir rennen die Wellen, die Wagen, und gütig
Gönnte der Meiſter mir ſelbſt auch mit hinüber zu gehn.

## Das Thor.

Schmeichelnd locke das Thor den Wilden herein zum Geſetze,
Froh in die freye Natur führ es den Bürger heraus.

SCHILLER.

## Abſchied.

Zu lieblich iſts, ein Wort zu brechen,
Zu ſchwer die wohlerkannte Pflicht,
Und leider kann man nichts verſprechen
Was unſerm Herzen widerſpricht.

Du übſt die alten Zauberlieder,
Du lockſt ihn, der kaum ruhig war,
Zum Schaukelkahn der ſüſsen Thorheit wieder
Erneuſt, verdoppelſt die Gefahr.

Was ſuchſt du mir dich zu verſtecken
Sey offen, flieh nicht meinen Blick!
Früh oder ſpät muſst ichs entdecken,
Und hier haſt du dein Wort zurück.

Was ich gefollt, hab ich vollendet,
Durch mich ſey dir von nun an nichts verwehrt,
Allein verzeih dem Freund der ſich nun von dir wendet,
Und ſtill in ſich zurücke kehrt.

GOETHE.

# Die Jungfrau des Schloſſes.

*Romanze.*

Vor grauen Jahrhunderten ſtand
Auf Tannenumgürteten Höhen
(Noch ſind ihre Mauern zu ſehen)
Eine Burg im ſächſiſchen Land.
Dort hauſte Graf Erich, ein Mann
Von grauſamen Sitten, es wehte
Gar oft ſchon in blutiger Fehde
Sein drohendes Banner voran.

Jetzt hatt' ihn das Alter erreicht,
Schon glänzten, vom Reife der Jahre
Bedecket, die bräunlichen Haare
Des Ritters zu Silber gebleicht.
Doch blieb er ſtets trotzig und wild,
Ein harter Gebieter, es bebten
Vor ihm ſeine Diener und lebten
Mit furchtſamen Grauen erfüllt,

Nur Jutta erzitterte nie,
Wenn rauh ſie der Vater bedräute,
Nie zittert die Unſchuld, auch ſcheute
Der Nimmerbezähmte nur ſie;
Oft hielt ſie mit bittendem Blick
Das Schwerdt das der wüthende ſchwenkte
Die Diener zu würgen und ſenkte
Es ſanft in die Scheide zurück.

Kaum ſah ſie zum funfzehnten mal
Die Wipfel der Tannen beſchneiet,
Und wieder ergrünt und erneuet
Die ſchwankenden Erlen im Thal,
Doch pflegte mit holder Geduld
Des mürriſchen Vaters ſie ſtille,
Ihr höchſtes Geſetz war ſein Wille,
Ihr einziger Wunſch ſeine Huld.

Einſt da ſie dem Vater beim Strahl
Des Morgens, in dämmernder Frühe

Mit liebend geſchäftiger Mühe
Gefüllt den gewohnten Pokal,
Da lockt der erwachende Chor
Des Hayns, die erröthende Bläue
Des heiteren Himmels die Scheue
Zum niedrigen Pförtchen am Thor.

Sie athmet in trunkener Luſt
Des Morgens balſamiſche Düfte,
Sanft heben ihr ſchmeichelnde Lüfte
Die Locken von Stirne und Bruſt.
Und wie ſie noch weilet, erſchrickt
Sie ſanft, als in nahen Geſträuchen,
Die ſchützend ſich über ihn beugen,
Ihr Aug einen Jüngling erblickt.

Still ſchmiegt ſich ein ſchmeichlender Hund
Dem ruhenden Jäger im Schooſe,
Ihm lieget zur Seit' in dem Mooſe
Die Armbruſt auf thauigtem Grund.

Sie bleibt mit gefeſſeltem Blick
Mit zweifelnden Tritten noch ſtehen,
Schnell heiſst ſie die Schüchternheit gehen
Und feſt hält ſie Neugier zurück.

Sie nahet dem Jüngling und ſpricht:
"So früh ſchon Herr Ritter vergnüget
"Die Jagd Euch? — denn ſicher, es trüget
"Dies ſtattliche Anſehn mich nicht;
"Wohl habt ihr als Gaſt ſchon, geehrt,
"Im hohen gewölbeten Saale
"Des Vaters, beim feſtlichen Mahle,
"Die glänzenden Becher geleert.

"Nur mir ſeyd Ihr noch nicht bekannt;
"Es hält aus der fröhlichen Mitte
"Der Männer die ſtrengere Sitte
"Uns ſchüchterne Frauen verbannt;
"Doch nehmt dieſen Frühtrunk, fürwahr
"Ihr habt der Erquickung vonnöthen"! —

Hier beut ſie mit keuſchem Erröthen
Den ſchwankenden Becher ihm dar.

Und ach mit dem Weine durchdringt
Der Liebe verzehrendes Feuer
Den Jüngling; wie zahlt er ſo theuer
Ein Labſal das Mitleid ihm bringt! —
O Mädchen! — du wähnſt, es ſey Wein
Der labend den Müden getränket?
Ruft feurig der Jüngling, ihm ſenket
In Buſen ſich glühende Pein.

Ich ſchlürft aus dem Becher nur Schmerz,
Der dumpf mir die Sinne umwindet,
Gekühlt iſt der Gaum; doch entzündet
Mit ewiger Flamme mein Herz! —
Doch weh mir! — es zürnet dein Blick
Du flieheſt? — O Jungfrau verzeihe,
Schon folgt dem Vergehen die Reue,
Doch nehm' ich es nimmer zurück.

Mein Nam' iſt von Wart, und es lag
In Schwaben die Burg meiner Väter
Doch ach! es befleckt' ein Verräther
Den rühmlichen Namen mit Schmach;
Er iſt der Verfolgungen Ziel,
Seit ehrlos ihn Rudolph getragen,
Und Albert der Kaiſer, erſchlagen
Durch bübiſchen Mouchelmord, fiel.

Auch uns traf die Rache; wir flohn.
Es birgt in der dichteſten Mitte
Des Waldes die niedere Hütte
Seit Monden die Irrenden ſchon.
Dort tönet ſo einſam und bang
Des Vaters verzehrende Klage,
Indeſs ich die Forſten durchjage
Dem dämmernden Morgen entlang.

Wohl fühl' ich's, daſs arm und verbannt,
Geächtet, ein Flüchtling ich ſchleiche,

Schon eil' ich von hinnen, doch reiche
Verzeihend mir liebreich die Hand.
Nie ſoll mehr dein zürnender Blick
O Schönſte, dem Allzuverwegnen
Auf ſchattiger Höhe begegnen,
Doch denke an ihn noch zurück.

Und Bläſſe des Todes umſchwebt
Jetzt plötzlich des Scheidenden Wange,
Indeſs noch mit ſchmerzlichem Drange
Der Buſen des Mädchens ſich hebt.
Sie iſt ſich nichts weiter bewuſst,
Beſiegt von dem mächtigſten Triebe,
Umfangen vom Zauber der Liebe,
Sinkt glühend ſie ihm an die Bruſt.

Er iſt der Verbannte nicht mehr;
Von zärtlichen Armen umſtricket,
Am Buſen der Liebe, erblicket
Verwandelt er rings um ſich her

Zur freundlichen Heimath die Flur,
Wo jüngst er ein Fremdling sich glaubte,
Es giebt, was das Schicksal ihm raubte,
Jetzt schöner ihm Lieb' und Natur.

Und jeglicher Morgen erneut
Mit süfsem Geheimnifs die Wonne
Der Liebenden, eh noch die Sonne
Die hüllenden Nebel zerstreut,
Eh zitternd am dunkleren Blau
Der Schimmer der Sterne verglimmet,
Und zweiflendes Dämmerlicht schwimmet,
Rings über der schlummernden Au.

Es hört nicht der Stürme Geheul,
Es fühlt nicht den stürzenden Regen
Der Jüngling, den Fluthen entgegen
Erglimmet mit liebender Eil'
Er Sommer und Winter die Höh'
Und bahnt auf der fährlichen Reise

Sich Pfade auf trüglichem Eise
Und Wege durch bahnlosen Schnee.

Stets harret die Liebende sein,
Sie läfst ihn mit holdem Erbarmen
Am klopfenden Busen erwarmen,
Sie reicht ihm den purpurnen Wein.
Im Schutze des nämlichen Baum's
Wo beide zuerst sich gefunden
Verträumen sie seelig die Stunden
Des kurzen beglückenden Traums.

Doch einst da zur Pforte sie schleicht,
Naht plötzlich gerüstet zum Jagen
Der Vater, es sieht ihn mit Zagen
Die Tochter, sie wankt und erbleicht.
Streng fragt er: "Wie trägst du den Wein
"Zur Pforte"? — "Er war einem Müden
Entgegnet sie stammelnd" beschieden
"Vom Söller gewahrte ich sein."

Schnell öfnet er zweiflend das Thor,
Da eilt' von den nahenden Tritten
Getäuſcht, mit geflügelten Schritten
Der harrende Jüngling hervor.
Und ſtolz ruft Graf Erich ihn an:
"Wer biſt du, um frevlend zu wagen,
"Dies fremde Geheg zu durchjagen
"Wer zeigte dem Knaben die Bahn?

Doch als ſich mit zürnendem Muth
Der trotzige Ritter geneunet,
(Unſelige Kekheit) entbrennet
Gewaltig des Grauſamen Wuth.
Wie, ſchnaubt er, entfloh dieſer Brut
Noch einer der himmliſchen Rache?
So führe mein Schwerd ihre Sache,
Ihr flieſse zum Opfer dein Blut.

Ha! rufet von Unwill entglüht
Der andre: "die fremden Verbrechen

"Am ſchuldloſen Flüchtling zu rächen
"Biſt grauſam du jetzt noch bemüht? —
So ſpricht er, indeſs er mit Fleiſs
Die ſtürmenden Streiche noch wehret,
Sanft ſchont er des Wütrich's und ehret
In ihm noch den Vater und Greis.

Und plötzlich mit flehendem Blick
Stürzt Jutta ſich zwiſchen die Streiter
Bang faſst ſie den Vater, — "Nicht weiter! —
O haltet die Streiche zurück.
Vergönnt mir, daſs, eh noch der Stahl
In ſchuldloſem Blute ſich färbe,
Durch ihn die Verbrecherin ſterbe! —
Der Jüngling — Er iſt mein Gemahl!

Und ſchäumend und ſchrecklicher ſchwingt
Der Alte ſein Schwerdt; das Erbarmen
Entflieht, da mit bebenden Armen
Die Tochter den Jüngling umſchlingt —.

Doch ach! den Geliebten beſchützt
Vergebens mit männlichem Muthe
Die Treue, ſie ſinket vom Blute
Des ſterbenden Jünglings beſprützt.

Und als ſie zum Leben erwacht,
(Schon trug man den Gatten von hinnen)
Da hüllt die zerrütteten Sinnen
Der Wahnſinn in tröſtende Nacht.
Sie wandelt im wachenden Traum
Noch täglich bei dämmernder Helle
Hinaus zu der blutigen Stelle
Und ruht an dem ſchützenden Baum.

Stets bringt den Pokal ſie hierher,
Und harret des Wiederſehns Stunde,
Dann flüſtert mit lächelndem Munde
Die Arme: "Er durſtet nicht mehr"! —
Starr blickt ſie ins grünende Moos
Mit zögernden Händen, vergieſset

Den Wein zur Erde, da fliefset
Die lindernde Zähr' in den Schoofs.

Und nimmer mit ſtärkender Macht
Erquickt ſie der tröſtende Schlummer,
Wild ſcheuchet der raſtloſe Kummer
Den holden Gefährten der Nacht.
Sie wendet das bleiche Geſicht
Wenn Mitleid die Nahrung ihr bietet,
Und ſtirbt wie von Stürmen umwüthet
Die glänzende Lilie bricht.

Noch ſchweifet ihr Geiſt in dem Schein
Der Dämmrung, man ſieht unter Ranken
Des düſternden Epheus ſie wanken
Am grauen bemooſten Geſtein.
Wild flattert ihr weifses Gewand
Beim erſten verkündenden Strahle
Des Morgens, ſie wird in dem Thale
Die Jungfrau des Schloſſes genannt.

Sie ruht auf verſunkenem Maal,
Wenn ſcheidend die Sterne erblaſſen,
Die geiſtigen Hände umfaſſen
Noch immer den goldnen Pokal,
Und hat den gefürchteten Hayn
Der irrende Jäger erreichet,
Entſchwebt ſie den Mauern und reichet
Dem Starren erquickenden Wein.

F.

## Die Peterskirche.

Suchſt du das Unermeſsliche hier? du haſt dich geirret.
Meine Gröſse iſt die, gröſser zu machen dich ſelbſt.

E.

## Götterhilfe.

Rufet nicht die Götter, Menſchen,
Daſs ſie euch Geſänge lehren,
Sie erhören euch nicht!
Auch wer liſtig Götter bände,
Von dem Hypnos überraſchte
Säng erzwungnen Geſang.
Aber werth des Umgangs ſuchen
Selbſt ſie reine Menſchenherzen,
Schenken herrlichen Sinn:
Gieſsen unerfleht dem Menſchen
Heil'gen Schauer durch die Nerven,
Und dann ſingt er ein Lied.
Wann des Dionyſos Nektar
Ihn zu Hämos Gipfel aufhebt;
Dann begeiſtern ſie ihn.
Wann der Liebe himmliſch Feuer
Ihn durchflammt, die Bruſt ihm weitet,
Dann begeiſtern ſie ihn.

Wann er ihnen gleich, auf neue
Schöpfung ſinnt, Natur belauſchend;
Dann verleihn ſie ihm Kraft.

SIEGFR. SCHMIDT.

## Thränen der Liebe.

Weinen ſah ich ſie ſonſt, die Geliebte, da wollt ich die Thränen,
Trocknen, Thor der ich war! wollte ſie fröhlich nur ſehn.
O nun kenn ich das weibliche Herz; ſeitdem ſie mir lächelt
Weinet der Liebende mehr ach! und er weinet umſonſt!

R.

# Licht und Wärme.

Der beſsre Menſch tritt in die Welt
Mit fröhlichem Vertrauen,
Er glaubt, was ihm die Seele ſchwellt,
Auch auſser ſich zu ſchauen,
Und weiht, von edlem Eifer warm,
Der Wahrheit ſeinen treuen Arm.
Doch alles iſt ſo klein, ſo eng,
Hat er es erſt erfahren,
Da ſucht er in dem Weltgedräng
Sich ſelbſt nur zu bewahren,
Das Herz, in kalter ſtolzer Ruh,
Schlieſst endlich ſich der Liebe zu.
Sie geben ach! nicht immer Glut,
Der Wahrheit helle Strahlen.
Wohl denen, die des Wiſſens Gut
Nicht mit dem Herzen zahlen!
Drum paart, zu euerm ſchönſten Glück,
Mit Schwärmers Ernſt des Weltmanns Blick.

Schiller.

## An Julius.

Grünen die Birken an des ſanften Hügels
Leis ſich neigendem Abhang, wo im Thale
Ueber Moosgeſtein der erzürnten Sprea
Wogen ſich ſtürzen?
Hauchet das Veilchen auf dem weichen Raſen
Schon den würzigen Duft, wo ſanft um-
ſchimmert
Von der Blättchen bebendem Gold der Erlen
Kronen ſich neigen?
Höreſt du ſchon wie in des Haynes Tempel
Sanft und liebend Aeodi's Lied erſchallet,
Und den ſeelenſchmelzenden Ton die milde
Echo erwiedert?
In dem ſmaragdnen Grün des jungen Saaten
In dem dunkleren Blau des klaren Himmels
Aus dem Spiegel ſtiller Gewäſſer lächelt
freundlich die Liebe.

Aber du ſitzeſt ernſt im ſtillen Zimmer,
Wägſt auf tönender Waage ſchwere Thaten,
Thaten, die dein liebendes Herz in ewge Dunkelheit hüllte;
Oder du ſteigeſt mit des Tiefſinns Fackel
An der leitenden Hand erfahrner Weiſen
Nicht geſchreckt von Furchtſamen in des Herzens ſchaurigen Abgrund,
Lauſcheſt der Stimme, die im eignen Buſen
Dir des Rechtes verkannte Sprüche deutet,
Und es ſchätzt dein kräftiges Wort der Freiheit heilige Regel.
Aber auch hier verlaſſen ihren Liebling
Nicht die Töchter Chronions, ſtreuenlächelnd
Auf die ernſte Rede der holden Dichtkunſt goldene Blumen.
Blicke durchs Fenſter! ſchau die Roſengluten
Dort am Saume der grünen Erd' erblaſſen

Schon zu falbem Schimmer, es athmet Kühlung
friedlich der Abend!
Auf und verlafs des Codex ſchwere Bände
Tauche unter den Geiſt ins junge Leben
Das dich rings ein wogendes Meer umflutet ſchaffender Kräfte,
Wohnet nicht hier des Herzens ſtille Ruhe,
Wo das weiſe Geſetz der Ordnung waltet,
In der Schönheit freyer Geſtalt, ein Sinnbild menſchlichen Adels?
Siehe wie dort im Blüthenſchatten Amor
Mit den lieblichen Kindern Florens ſcherzet.
Ernſter Jüngling! fürchte des kleinen Gottes glänzenden Bogen.
Flieheſt du unmuthsvoll die loſen Freuden
Und das kältende Eis der Etikette,
Nehme dich die groſse Natur an ihren wärmenden Buſen!

Denke dann meiner, wenn voll ſtiller Andacht
Sich dein fühlendes Herz zu ihm erhebet,
Der den Frühling ſchenket der Erd und Liebe edleren Geiſtern!

K. L. M. Müller.

## Kindheit und Jugend.

Als mich die dämmernden Thäler der holden Kindheit umfingen
War mein Erwachen noch ſtill, ruhig im Schlummer mein Traum,
Du erſchienſt mir, o Göttin, mit deinem unendlichen Streben,
Und in der Glut des Gefühls floh mir die ſelige Ruh.
Aber das Schickſal gebeut; einſt flieheſt du, lächelnde Hebe,
Und die verlohrene Ruh kehrt mir doch nimmer zurück.

Louise ***

## Breite und Tiefe.

Es glänzen viele in der Welt,
Sie wiſſen von allem zu ſagen,
Und wo was reizet, und wo was gefällt,
Man kann es bey ihnen erfragen,
Man dächte, hört man ſie reden laut,
Sie hätten wirklich erobert die Braut.
Doch gehn ſie aus der Welt ganz ſtill,
Ihr Leben war verloren,
Wer etwas Trefliches leiſten will,
Hätt' gerne was Groſses gebohren,
Der ſammle ſtill, und unerſchlafft
Im kleinſten Punkte die höchſte Kraft.
Der Stamm erhebt ſich in die Luft
Mit üppig prangenden Zweigen,
Die Blätter glänzen und hauchen Duft,
Doch können ſie Früchte nicht zeugen,
Der Kern allein im ſchmalen Raum,
Verbirgt den Stolz des Waldes, den Baum.

SCHILLER.

## An Alexander v. H.

*bey Ueberſendung eines Lukrez.*

Du, deſſen Genius ſo früh
des Himmels Strahlenfackel raubte,
als die Natur ihm Flügel lieh,
damit er dankbar einſt an Sie
und keine fremde Gottheit glaubte;
der mit entfeſſeltem Genie
und kühner Schnellkraft der Gedanken
das Räderwerk der Weltenuhr
umſpannt, die myſtiſche Natur
enthüllt, und ihre Zauberſchranken
verfolgt auf ahndungsreicher Spur,
die dunkeln Räthſel aufzuhellen,
um welche noch ein Schauer ſchwebt,
vor dem der Denker ſelbſt erbebt,
bis er, berauſcht aus Lethes Quellen,
die Täuſchung der Theoſophie
auf ihres Heiligthumes Schwellen

des

des Weltalls ewige Magie
als Wahrheits-Göttin aufzuſtellen; —

Du, deſſen nie erſchöpfter Geiſt
die feinſte Blume des Genuſſes
der Kentniſs Felſenhöh'n entreifst,
und dann am Strand des Lebensfluſſes
mit friſchem Reitz ſie blühen heifst;
für deſſen Blick in allen Räumen
der unermeſslichen Natur
kaum leichte Wölkchen den Azur
des freien Horizonts umſäumen,
indeſs mit Ahndungen und Träumen
kein Dämon je ſein Herz beſchwur;
der am beſtürmten Ozeane
der grenzenloſen Ewigkeit
nicht glüht und ſtampft im trunknen Wahne,
nicht auf der Hofnung morſchem Kahne
den eitlen Trotz zu ſpät bereut;
der mit dem zarten Nervenſpiele

vertraut, wie mit dem Schwung der Welt,
der Menſchheit kränkelnde Gefühle
für keine Götterfunken hält;
der in der Blüte Nahrungsſäften
das nähmliche Geſetz entdeckt,
das mit verborgnen Zauberkräften
in Neutons Stirn Ideen weckt —

O Freund! ſeitdem ſo mancher Schleier
des Aberglaubens niederſank;
ſo mancher Weiſe, von dem Feuer
der Sehnſucht hingeriſſen, freier
am Quell der Wahrheit, Wolluſt trank,
komm, lehre Du, in hellern Zeiten
des Wahns, ein beſsrer Epikur,
mich würdig auf Lukrezens Saiten
der nimmer älternden Natur
ein heilig Loblied zu bereiten.

R.

# Die Kraniche des Ibycus.

*Ballade.*

Zum Kampf der Wagen und Geſänge,
Der auf Corinthus Landesenge
Der Griechen Stämme froh vereint,
Zog Ibycus, der Götterfreund.
Ihm ſchenkte des Geſanges Gabe,
Der Lieder ſüſsen Mund Apoll,
So wandert er, an leichtem Stabe,
Aus Rhegium, des Gottes voll.

Schon winkt auf hohem Bergesrücken
Acrocorinth des Wandrers Blicken,
Und in Poſeidons Fichtenhayn
Tritt er mit frommem Schauder ein.
Nichts regt ſich um ihn her, nur Schwärme
Von Kranichen begleiten ihn,
Die fernhin nach des Südens Wärme
In graulichtem Geſchwader ziehn.

Seid mir gegrüſst, befreundte Schaaren!
Die mir zur See Begleiter waren.
Zum guten Zeichen nehm ich euch,
Mein Loos, es iſt dem euren gleich.
Von fernher kommen wir gezogen,
Und flehen um ein wirthlich Dach.
Sei uns der Gaſtliche gewogen,
Der von dem Fremdling wehrt die Schmach!

Und munter fördert er die Schritte,
Und ſieht ſich in des Waldes Mitte,
Da ſperren, auf gedrangem Steg,
Zwey Mörder plötzlich ſeinen Weg.
Zum Kampfe muſs er ſich bereiten,
Doch bald ermattet ſinkt die Hand,
Sie hat der Leyer zarte Saiten,
Doch nie des Bogens Kraft geſpannt.

Er ruft die Menſchen an, die Götter,
Sein Flehen dringt zu keinem Retter,

Wie weit er auch die Stimme ſchickt,
Nichts lebendes wird hier erblickt.
"So muſs ich hier verlaſſen ſterben,
Auf fremdem Boden, unbeweint,
Durch böſer Buben Hand verderben,
Wo auch kein Rächer mir erſcheint!"

Und ſchwer getroffen ſinkt er nieder,
Da rauſcht der Kraniche Gefieder,
Er hört, ſchon kann er nicht mehr ſehn,
Die nahen Stimmen furchtbar krähn.
"Von euch ihr Kraniche dort oben!
Wenn keine andre Stimme ſpricht,
Sey meines Mordes Klag erhoben!"
Er ruft es, und ſein Auge bricht.

Der nakte Leichnam wird gefunden,
Und bald, obgleich entſtellt von Wunden,
Erkennt der Gaſtfreund in Corinth,
Die Züge, die ihm theuer ſind.

Und muſs ich ſo dich wiederfinden,
Und hoffte mit der Fichte Kranz
Des Sängers Schläfe zu umwinden,
Beſtrahlt von ſeines Ruhmes Glanz!"

Und jammernd hörens alle Gäſte,
Verſammelt bey Neptunus Feſte,
Ganz Griechenland ergreift der Schmerz,
Verloren hat ihn jedes Herz,
Und ſtürmend drängt ſich zum Prytanen
Das Volk, es fodert ſeine Wut
Zu rächen des Erſchlagnen Manen,
Zu ſühnen mit des Mörders Blut.

Doch wo die Spur, die aus der Menge,
Der Völker flutendem Gedränge,
Gelocket von der Spiele Pracht,
Den ſchwarzen Thäter kenntlich macht?
Sinds Räuber, die ihn feig erſchlagen?
Thats neidiſch ein verborgner Feind?

Nur Helios vermags zu ſagen,
Der alles Irrdiſche beſcheint

Er geht vielleicht, mit frechem Schritte,
Jetzt eben durch der Griechen Mitte,
Und während ihn die Rache ſucht,
Genieſst er ſeines Frevels Frucht.
Auf ihres eignen Tempels Schwelle
Trotzt er vielleicht den Göttern, mengt
Sich dreiſt in jene Menſchenwelle,
Die dort ſich zum Theater drängt.

Denn Bank an Bank gedränget ſitzen,
Es brechen faſt der Bühne Stützen,
Herbeygeſtrömt von Fern und Nah,
Der Griechen Völker wartend da,
Dumpfbrauſend wie des Meeres Wogen,
Von Menſchen wimmelnd wächſt der Bau,
In weiter ſtets geſchweiftem Bogen
Hinauf bis in des Himmels Blau.

Wer zählt die Völker, nennt die Nahmen,
Die gaſtlich hier zuſammen kamen?
Von Theſeus Stadt, von Aulis Strand,
Von Phocis, vom Spartanerland,
Von Aſiens entlegner Küſte,
Von allen Inſeln kamen ſie,
Und horchen von dem Schaugerüſte
Des Chores grauſer Melodie —

Der ſtreng und ernſt, nach alter Sitte,
Mit langſam abgemeſsnem Schritte,
Hervortritt aus dem Hintergrund,
Umwandelnd des Theaters Rund.
So ſchreiten keine irrdſchen Weiber,
Die zeugete kein ſterblich Haus!
Es ſteigt das Rieſenmaaſs der Leiber
Hoch über menſchliches hinaus.

Ein ſchwarzer Mantel ſchlägt die Lenden,
Sie ſchwingen in entfleiſchten Händen

Der Fackel düsterrothe Glut,
In ihren Wangen fliesst kein Blut.
Und wo die Haare lieblich flattern,
Um Menschenstirnen freundlich wehn,
Da sieht man Schlangen hier und Nattern
Die giftgeschwollnen Bäuche blähn.

Und schauerlich gedreht im Kreise,
Beginnen sie des Hymnus Weise,
Der durch das Herz zerreissend dringt,
Die Bande um den Sünder schlingt.
Besinnungraubend, Herzbethörend
Schallt der Erinnyen Gesang,
Er schallt, des Hörers Mark verzehrend,
Und duldet nicht der Leier Klang.

Wohl dem, der frei von Schuld und Fehle
Bewahrt die kindlich reine Seele!
Ihm dürfen wir nicht rächend nahn,
Er wandelt frei des Lebens Bahn.

Doch wehe wehe, wer verstohlen
Des Mordes schwere That vollbracht,
Wir heften uns an seine Sohlen,
Das furchtbare Geschlecht der Nacht!

Und glaubt er fliehend zu entspringen,
Geflügelt sind wir da, die Schlingen
Ihm werfend um den flüchtgen Fuss,
Dass er zu Boden fallen muss.
So jagen wir ihn, ohn Ermatten,
Versöhnen kann uns keine Reu,
Ihn fort und fort bis zu den Schatten,
Und geben ihn auch dort nicht frei.„

So singend tanzen sie den Reigen,
Und Stille wie des Todes Schweigen
Liegt überm ganzen Hause schwer,
Als ob die Gottheit nahe wär'.
Und feierlich, nach alter Sitte
Umwandelnd des Theaters Rund,

Mit langſam abgemeſsnem Schritte,
Verſchwinden ſie im Hintergrund.

Und zwiſchen Trug und Wahrheit
ſchwebet
Noch zweifelnd jede Bruſt und bebet,
Und huldiget der furchtbarn Macht,
Die richtend im Verborgnen wacht,
Die unerforſchlich, unergründet,
Des Schickſals dunkeln Knäuel flicht,
Dem tiefen Herzen ſich verkündet,
Doch fliehet vor dem Sonnenlicht.

Da hört man auf den höchſten Stufen
Auf einmal eine Stimme rufen:
"Sieh da! Sieh da, Timotheus,
Die Kraniche des Ibycus!" —
Und finſter plötzlich wird der Himmel,
Und über dem Theater hin,

Sieht man, in ſchwärzlichtem Gewimmel,
Ein Kranichheer vorüberziehn.

"Des Ibycus!" Der theure Nahme
Rührt jede Bruſt mit neuem Grame,
Und, wie im Meere Well auf Well,
So läufts von Mund zu Munde ſchnell.
"Des Ibycus, den wir beweinen,
Den eine Mörderhand erſchlug!
Was iſts mit dem? Was kann er meinen?
Was iſts mit dieſem Kranichzug?" —

Und lauter immer wird die Frage,
Und ahnend fliegts, mit Blitzesſchlage,
Durch alle Herzen "Gebet acht!
Das iſt der Eumeniden Macht!
Der fromme Dichter wird gerochen,
Der Mörder bietet ſelbſt ſich dar.
Ergreift ihn, der das Wort geſprochen,
Und ihn, an den's gerichtet war."

Doch dem war kaum das Wort entfahren,
Möcht' ers im Buſen gern bewahren;
Umſonſt, der ſchreckenbleiche Mund
Macht ſchnell die Schuldbewuſsten kund.
Man reiſst und ſchleppt ſie vor den Richter,
Die Scene wird zum Tribunal,
Und es geſtehn die Böſewichter,
Getroffen von der Rache Strahl.

SCHILLER.

# Arion.

*Romanze.*

Arion war der Töne Meiſter,
Die Cither lebt' in ſeiner Hand;
Damit ergötzt' er alle Geiſter,
Und gern empfing ihn jedes Land.
Er ſchiffte Goldbeladen
Jetzt von Tarents Geſtaden,
Zum ſchönen Hellas heimgewandt.

Zum Freunde zieht ihn ſein Verlangen,
Ihn liebt der Herrſcher von Korinth.
Eh' in die Fremd' er ausgegangen,
Bat der ihn, brüderlich geſinnt:
Laſs dirs in meinen Hallen
Doch ruhig wohlgefallen!
Viel kann verlieren, wer gewinnt.

Arion ſprach: ein wandernd Leben
Gefällt der freyen Dichterbruſt.

Die Kunſt, die mir ein Gott gegeben,
Sie ſey auch vieler Tauſend Luſt.
An wohlerworbnen Gaben
Wie werd' ich einſt mich laben,
Des weiten Ruhmes froh bewuſst! —

Er ſteht im Schiff am zweyten Morgen,
Die Lüfte wehen lind und warm.
"O Periander, eitle Sorgen!
Vergiſs ſie nun in meinem Arm.
Wir wollen mit Geſchenken
Die Götter reich bedenken,
Und jubeln in der Gäſte Schwarm.

Es bleiben Wind und See gewogen,
Auch nicht ein fernes Wölkchen graut.
Er hat nicht allzuviel den Wogen,
Den Menſchen allzuviel vertraut.
Er hört die Schiffer flüſtern,
Nach ſeinen Schätzen lüſtern,
Doch bald umringen ſie ihn laut.

"Du darfſt, Arion, nicht mehr leben·
Begehrſt du auf dem Land' ein Grab,
So muſst du hier den Tod dir geben;
Sonſt wirf dich in das Meer hinab."
So wollt ihr mich verderben?
Ihr mögt mein Gold erwerben,
Ich kaufe gern mein Blut euch ab. —

"Nein, nein! wir laſſen dich nicht wandern,
Du wärſt ein zu gefährlich Haupt.
Wo blieben wir vor Periandern,
Verriethſt du, daſs wir dich beraubt?
Uns kann dein Gold nicht frommen,
Wenn wieder heim zu kommen
Uns nimmermehr die Furcht erlaubt."

Gewährt mir denn noch Eine Bitte,
Gilt, mich zu retten, kein Vertrag;
Daſs ich nach Citherſpieler-Sitte,
Wie ich gelebet, ſterben mag.

Wann ich mein Lied gesungen,
Die Saiten ausgeklungen,
Dann fahre hin des Lebens Tag. —

Die Bitte kann sie nicht beschämen,
Sie denken nur an den Gewinn.
Doch solchen Sänger zu vernehmen,
Das reizet ihren wilden Sinn.
"Und wollt ihr ruhig lauschen,
Lasst mich die Kleider tauschen,
Im Schmuck nur reifst Apoll mich hin."

Der Jüngling hüllt die schönen Glieder
In Gold und Purpur wunderbar.
Bis auf die Sohlen wallt hernieder
Ein leichter faltiger Talar;
Die Arme zieren Spangen,
Um Hals und Stirn und Wangen
Fliegt duftend das bekränzte Haar.

Die Cither ruht in ſeiner Linken,
Die Rechte hält das Elfenbein.
Er ſcheint erquickt die Luft zu trinken,
Er ſtrahlt im Morgenſonnenſchein.
Es ſtaunt der Schiffer Bande,
Er ſchreitet vorn zum Rande,
Und ſieht ins blaue Meer hinein.

Er ſang: Gefährtin meiner Stimme!
Komm, folge mir ins Schattenreich.
Ob auch der Höllenhund ergrimme,
Die Macht der Töne zähmt ihn gleich.
Elyſiums Heroën,
Dem dunkeln Strohm entflohen!
Ihr Friedlichen, ſchon grüſs' ich euch!

Doch könnt ihr mich des Grams entbinden?
Ich laſſe meinen Freund zurück.
Du gingſt, Eurydicen zu finden;
Der Hades barg dein ſüſses Glück.

Da wie ein Traum zerronnen,
Was dir dein Lied gewonnen,
Verfluchteſt du der Sonne Blick.

Ich muſs hinab, ich will nicht zagen!
Die Götter ſchauen aus der Höh.
Die ihr mich wehrlos habt erſchlagen,
Erblaſſet, wenn ich untergeh'!
Den Gaſt, zu euch gebettet,
Ihr Nereiden, rettet! —
So ſprang er in die tiefe See.

Ihn decken alſobald die Wogen,
Die ſichern Schiffer ſegeln fort.
Delphine waren nachgezogen,
Als lockte ſie ein Zauberwort:
Eh Fluthen ihn erſticken,
Beut einer ihm den Rücken
Und trägt ihn ſorgſam hin zum Port,

"Leb' wohl, und könnt ich dich belohnen
Du treuer, freundlicher Delphin!
Du kannſt nur hier, ich dort nur wohnen:
Gemeinſchaft iſt uns nicht verliehn.
Dich wird auf feuchten Spiegeln
Noch Galatea zügeln,
Du wirſt ſie ſtolz und heilig ziehn."

Arion eilt nun leicht von hinnen,
Wie einſt er in die Fremde fuhr;
Schon glänzen ihm Korinthus Zinnen,
Er wandelt ſingend durch die Flur.
Mit Lieb' und Luſt gebohren,
Vergiſſt er, was verlohren,
Bleibt ihm der Freund, die Cither nur.

Er tritt hinein: "Vom Wanderleben
Nun ruh, ich, Freund, an deiner Bruſt.
Die Kunſt, die mir ein Gott gegeben,
Sie wurde vieler Tauſend Luſt.

Zwar falſche Räuber haben
Die wohlerworbnen Gaben,
Doch bin ich mir des Ruhms bewuſst.

Dann ſpricht er von den Wunderdingen
Daſs Periander ſtaunend horcht.
"Soll jenen ſolch ein Raub gelingen?
Ich hätt' umſonſt die Macht geborgt.
Die Thäter zu entdecken
Muſst du dich hier verſtecken,
So nahn ſie wohl ſich unbeſorgt."

Und als im Hafen Schiffer kommen
Beſcheidet er ſie zu ſich her.
"Habt vom Arion ihr vernommen?
Mich kümmert ſeine Wiederkehr." —
Wir lieſsen, recht im Glücke,
Ihn zu Tarent zurücke. —
Da, ſiehe! tritt Arion her.

Gehüllt ſind ſeine ſchönen Glieder
In Gold und Purpur wunderbar.

Bis auf die Sohlen wallt hernieder
Ein leichter faltiger Talar;
Die Arme zieren Spangen,
Um Hals und Stirn und Wangen
Fliegt duftend das bekränzte Haar.

Die Cither ruht in ſeiner Linken,
Die Rechte hält das Elfenbein.
Sie müſſen ihm zu Füſsen ſinken,
Es trifft ſie wie des Blitzes Schein.
Ihn wollten wir ermorden;
Er iſt zum Gotte worden:
O ſchläng' uns nur die Erd hinein!" —

Er lebet noch, der Töne Meiſter;
Der Sänger ſteht in heil'ger Hut.
Ich rufe nicht der Rache Geiſter,
Arion will nicht euer Blut.
Fern mögt ihr zu Barbaren,
Des Geizes Knechte, -fahren;
Nie labe Schönes euern Muth!

A. W. Schlegel.

## Der neue Amor.

Amor, nicht das Kind, der Jüngling der Pſychen verführte,
Sah im Olympus ſich um, frech und der Siege gewohnt;
Eine Göttinn erblickt er, vor allen die herrlichſte Schöne,
VenusUrania wars,und er entbrannte fürſie.
Ach! die Heilige ſelbſt, ſie widerſtand nicht dem Werben,
Und der Verwegene hielt feſt ſie im Arme beſtrickt.
Da entſtand aus ihnen ein neuer, lieblicher Amor,
Der dem Vater den Sinn, Sitte der Mutter verdankt.
Immer findeſt du ihn in holder Muſen Geſellſchaft,
Und ſein reizender Pfeil ſtiftet die Liebe der Kunſt.

GOETHE.

## An Daphne.

Als noch das Flügelkleid dich liebliche Daphne umwallte,
Damals zogst du ein Heer williger Sclaven dir auf,
Wenn in der kindischen Hand, die Amor mit Grübgen besäte,
Futter tragend und Trank, du das Gegitter betratst,
Eilte der Zöglinge Schaar mit frohem Flug dir entgegen,
Raubte die süssere Kost aus alabasterner Hand,
Jubelnd begrüfsten sie dich mit ihrem schmetternden Liede,
Und es erhoben sich dir brütende Weibchen vom Nest.

Alle

Alle vergafsen, dafs du den Kerker ihnen bereitet,
Wenn dein zierlicher Fufs über die Schwelle nun glitt.
Und du wähneft fie frey, die gelbgefiederten Kleinen
Seit dich dem heimifchen Heerd Amor und Hymen entführt?
Reizende Daphne, du irrft, was je zu Sclaven du wählteft,
Löfet die Feffel fich nie, die es dir eigen gemacht.
Aber es wandelt' ein Gott, dem alle Götter gehorchen,
Zu Amorinen fie um, ewig zum Dienft dir geweiht.
Hunderte ringeln dein Haar, in deinen glänzenden Locken
Birgt fich mancher und hüpft auf der gehobenen Bruft;

Andre umſpielen die Hand, die Falten des leichten Gewandes
Schlingt um die Wette die Schaar dir um die ſchlanke Geſtalt.
Flatternd, doch ſtets dir getreu, um immer bey dir zu verweilen,
Haben die Flügelchen ſie ſelber ſich willig gekürzt.
Gauckelnd umſchweben ſie dich im magiſchen Kreis und es weichet
Nimmer Geliebte von dir fürder die dienende Schaar,
Dir als heilige Wächter! die glänzenden Fittiche wehren
Jedem entweihenden Hauch, der ſich dir frevlend genaht;
Hier dem entſtellenden Gram, mit bleicher und bebender Lippe,
Der mit der zuckenden Hand, grauſam die Sterblichen faſst,

Dort der Menadiſchen Luſt, ſie ſchwingt beraulchet den Tyrſus,
Reiſset im ſchwindelnden Kreis, wen ſie ergreifet, dahin.
Dich nur bewahren ſorgſam vor beyden die kleinen Getreuen,
Halten zum ſchönen Geleit ſtets dir die Grazien feſt.

F.

## Erziehung.

Immer erzieht am Spallier wie den Fruchtbaum, ſo den Geſchäftsmann,
Frei wie die Eiche des Walds laſst nur den Sohn des Genies.

R.

## Begeiſterung.

Langſam bildet der Fleiſs ein ſterbliches Werk dem Bedürfniſs,
Schneller und ewig blüht, was die Begeiſterung ſchuf.

R.

## Licht und Schatten.

Wenn ſich der Aether erhebt, in hoher heiliger Klarheit,
Wenn ſich ein flieſsendes Gold über die Erde ergieſst,
Und vor dem ſtralenden Gott die Schatten leiſe zerrinnen,
Freut dich der blendende Glanz und das allmächtige Licht.
Aber bezaubernder, Freund, erſcheint dir die liebliche Gegend,
Dich erfreut der Contraſt und das gebrochene Licht —
Wenn die Wolke ſich hebt, und wechſelnd auf Thäler und Dörfchen,
Tannenwälder und Seen dunkle Schattirungen ſtreut,
Oder der ſilberne Mond am Berge freundlich hervorſteigt,
Und der Schatten des Bergs tief in die Thäler ſich ſenkt.

O! wie die Höhen ſich dann in heiligem
Schimmer verklären,
Wie das erfreuliche Licht heller der
Schatten beſäumt!
— Und doch klagteſt du jüngſt, dein trau-
riges Schickſal beweinend,
Wie des Lebens Gefild oft ach! ſo dun-
kel dir ſey,
Wie auf der Stellen geliebteſter dämmernd
ein Schatten ſich lagre,
Oft nach dem lieblichſten Tag ſchwarz
dich umgebe die Nacht
Wechſel vergnügt dein Gemüth; es freuet
der Wechſel uns alle,
Freue dich, Glücklicher doch, daſs du
nicht glücklicher biſt.

Sophie Mereau.

## Terracina *)

an Louise Fürstin von Dessau und Matthisson.

Sey mir nach langem Entbehren gegrüfst o heilige Meerfluth
Sey mir im zitternden Strahl bläulichen Aethers gegrüfst!
Freyer athm' ich empor in des Meers unendlicher Fülle,
Hier wo am Klippengestad', hoch auf brandet die Fluth!
Freundlich umwallet ihr mich Okeanus liebliche Töchter,
Jede mit eigenem Reitz! Jede mit eigenem Ton!
Tanzend gleitet der Nachen dahin auf rosigen Wellen
Sinnend wieget mein Geist, sich im azurenen Bett!

*) Terracina. — Anxur der Volsker. Terracina nach der phantastischen Gestalt seines Klippengestades von den Griechen schon benannt; und um der Genealogie in aufsteigender Linie zu folgen, nach der Meinung verschiedner Schriftsteller die Telepylos Homers.

Ach! wie glüh'n die Geſtade von ſinkender Sonne beſchimmert,
Dort wo der Hallen Ruin ſäuſelnd durchſpielet der Weſt!
Fern am Meerhorizont entſteigt dem purpurnen Dufte,
Leicht an einander gereiht, lieblicher Eilande Kranz!
Rings mit Wolken gegürtet, den Fuſs vom Meere gebadet
Starrt im finſteren Ernſt, dort der Circäiſche Fels!
Weit umſchlingt ſich im Süden der Berge zirkelnder Reihen,
Wo die Cajetiſche Bucht Formiä Hügel beſchirmt!
Meer und Himmel vereinen ſich hier zu lächelnder Anmuth,
Und das umſchimmerte Land, ruht im vertraulichen Bund!

Hinter der Circe Gebirg' iſt ſchon die Sonne geſunken,
Flammender Wiederſchein weilt, tief in umwaldeter Kluft.
Luna's ſilbernes Horn ſchwebt hoch im goldenen Aether,
Heſperus Fackel entglimmt leiſ' in der Wolke voll Thau!
Wonn' und Wehmuth umfangen mein Herz, und ſüſses Verlangen
Hebet die ſehnende Bruſt, hüllet in Thränen den Blick!
Ferne getrennet von Euch, denkt Euer in heiliger Stunde,
Im Pommeranzengedüft, nahe beim Wogengeſang,
Unter des Felſenthurms Telepylos drohender Veſte
Die des verſchwiſternden Bunds ewige Treue beſchwur.

FRIDERIKE BRUN.

## Macht der Sinne.

Hätt' ich nimmer Sie geſehn,
Ihres Auges ſanftes Flehn,
Ihre Wangen roth und ſchön,
Hätt' ich nimmer ſie geſehn!

Hätt' ich nimmer ihn gehört,
Ihn den Ton, der unbewehrt,
Meines Herzens Frieden ſtöhrt,
Hätt' ich nimmer ihn gehört!

Hätt' er nimmer mich umweht,
Der ſo ſüſs vom Munde geht,
Wie der Duft vom Nelkenbeet,
Hätt' der Hauch mich nie umweht!

Hätt' ich nimmer ihn geſchmeckt!
Ihn den Kuſs, der Sehnſucht weckt,
Alle Ruh' von hinnen ſchreckt,
Hätt' ich nimmer ihn geſchmeckt!

Hätt' ich nimmer ihn gefühlt,
Ihn den Druck, der glüht und kühlt,
Durch des Herzens Tiefen wühlt,
Hätt' ich nimmer ihn gefühlt!

Cordes.

## Halbe Thorheit.

In einem Winkelchen, ganz eigen
Dazu erlesen, ohne Zeugen,
Hab' ich mehr als die halbe Nacht
Mit zweien Schönen zugebracht.
Hienieden ist kein Glück vollkommen!
Wir haben viel gescherzt, gelacht,
Der Thorheit Fülle vorgebracht,
Und, ach! nicht Eine vorgenommen.

B.

## Das Geheimniſs.

Sie konnte mir kein Wörtchen ſagen,
Zu viele Lauſcher waren wach,
Den Blick nur durft ich ſchüchtern fragen,
Und wohl verſtand ich was er ſprach.
Leis ſchleich ich her in deine Stille,
Du ſchön belaubtes Buchenzelt,
Verbirg in deiner grünen Hülle
Die Liebenden dem Aug der Welt.

Von ferne mit verworrnem Sauſen
Arbeitet der geſchäftge Tag,
Und durch der Stimmen hohles Brauſen
Erkenn ich ſchwerer Hämmer Schlag.
So ſauer ringt die kargen Looſe
Der Menſch dem harten Himmel ab,
Doch leicht erworben, aus dem Schooſe
Der Götter fällt das Glück herab.

Daſs ja die Menſchen nie es hören,
Wie treue Lieb' uns ſtill beglückt!
Sie können nur die Freude ſtören,
Weil Freude nie ſie ſelbſt entzückt.
Die Welt wird nie das Glück erlauben,
Als Beute wird es nur gehaſcht,
Entwenden muſt du's oder rauben,
Eh dich die Miſsgunſt überraſcht.

Leis auf den Zähen kommts geſchlichen
Die Stille liebt es und die Nacht,
Mit ſchnellen Füſsen iſts entwichen,
Wo des Verräthers Auge wacht.
O ſchlinge dich, du ſanfte Quelle,
Ein breiter Strom um uns herum,
Und drohend mit empörter Welle
Vertheidige dieſs Heiligthum.

SCHILLER.

## Die Freuden der Gegenwart.

Laſſet die Roſenumkränzeten Stunden
Bei den ätheriſchen Schwingen uns faſſen,
Schnell wie vorüber die Eilenden fliehn.
Wenn wir ſie läſsig entſchlüpfen uns laſſen,
Sind auch auf immer die Holden ver-
ſchwunden,
Welche ſich zürnend dem Trägen entziehn.
Haſchet im Fluge den Augenblick,
Freunde, er kehret euch nimmer zurück.

Laſst in die jugendlich flatternden Haare
Blühende Zweige der Myrthe uns ſchlingen,
Feſſelt die Locken mit ſanfter Gewalt,
Eh von der Scheitel mit ſparſamen Ringen
Endlich gebleichet vom Hauche der Jahre
Silbernes Haar in dem Nacken uns wallt.
Haſchet im Fluge den Augenblick,
Freunde, er kehret euch nimmer zurück

Laſſet, vergönnet uns Phöbus die Leier,
Heiter ſie immer und fröhlich ertönen,
Freuden der Gegenwart ſinge ſie nur,
Dieſe nur kann mit dem Schickſal verſöhnen,
Denn um das künftige wallet ein Schleier,
Und es verweht der Vergangenheit Spur.
Haſchet im Fluge den Augenblick,
Freunde, er kehret euch nimmer zurück.

Laſſet den Leidenden tröſtend ſich ſagen:
"Zukunft, die ferne, nur krönet mein Hoffen,
"HeitereHofnung betrüget den Schmerz —"
Jedem Geſchenke der Gegenwart offen,
Jeglicher Freude mit zitterndem Schlagen
Bebe das leiſe bewegliche Herz.
Haſchet im Fluge den Augenblick,
Freunde, er kehret euch nimmer zurück.

Aber, o laſst uns den Becher der Freuden
Immer mit mäſsiger Lippe berühren,

Wenn ihn die Hore, die Freundliche, reicht;
Nie im Genuſſe ſich ſelbſt zu verlieren,
Und in den Armen des Glückes beſcheiden,
Weiſe zu bleiben iſt weniger leicht.
Bringe den fliehenden Augenblick
Nimmer die quälende Reue zurück.

F.

## Lebewohl.

Lebe wohl, vergiſs mein nicht.
Schenke mir dein Angedenken,
Liebe darfſt du mir nicht ſchenken,
Ach! das Schickſal will es nicht!
Lebe wohl, vergiſs mein nicht,
Ewig theuer meinem Herzen
Denk ich dein mit ſüſsen Schmerzen,
Bis das Aug im Tode bricht.
Lebe wohl, vergiſs mein nicht,
Wenn wir endlich ausgeweinet,
Ausgelitten, dann erſcheinet
Glück uns dort in höherm Licht!

Cordes.

## Täuſchung.

Wohl! hier wird mir doch kühler, mich lagernd am flüchtigen Bächlein.
Iſt mir im Innern ſo ſchwül! Iſt doch ſo drückend die Luft!
Wohl! dort glänzen mir ſchon die Boten der nahen Erquickung,
Blitze, dem blauen Gebirg küſſend die Laſt von der Stirn.
Blitzet ihr mir auch hinweg den Druck von dem glühenden Herzen,
Das in Gebilden verglüht, ſchauend das Wirkliche nie.
Iſt es ein feindlicher Gott, der goſs das heilige Feuer
Mir in das fühlende Herz, daſs es ſich einſam verglüh'?

Denn die Geliebte birgt er mir böslich, die er doch immer
Zeigt im Gebild' in der Nacht, zeigt im Gebild' an dem Tag.
Dreymal führt er mir ſchon mit täuſchendem Shhimmer das Mädchen
An das erſehnende Herz; dreymal gelang ihm die Liſt.
Wirſt du immer mich täuſchen? Soll nie die Freundinn ich finden,
Die ſich in Träumen der Nacht, ſpiegelt in Bildern des Tags?

SIEGFR. SCHMIDT.

# Der Gang nach dem Eiſenhammer.

*Ballade.*

Ein frommer Knecht war Fridolin,
Und in der Furcht des Herrn
Ergeben der Gebieterin
Der Gräfin von Saverne.
Sie war ſo ſanft, ſie war ſo gut,
Doch auch der Launen Uebermuth
Hätt er geeifert zu erfüllen,
Mit Freudigkeit, um Gotteswillen.

Früh von des Tages erſtem Schein
Bis ſpät die Veſper ſchlug,
Lebt er nur ihrem Dienſt allein,
That nimmer ſich genug.
Und ſprach die Dame: mach dirs leicht!
Da wurd ihm gleich das Auge feucht,
Und meinte, ſeiner Pflicht zu fehlen,
Durft er ſich nicht im Dienſte quälen,

Drum vor dem ganzen Dienertroſs
Die Gräfin ihn erhob,
Aus ihrem ſchönen Munde floſs
Sein unerſchöpftes Lob.
Sie hielt ihn nicht als ihren Knecht,
Es gab ſein Herz ihm Kindesrecht,
Ihr klares Auge mit Vergnügen
Hing an den anmuthsvollen Zügen.

Darob entbrennt in Roberts Bruſt,
Des Jägers, giftger Groll,
Ihm längſt von böſer Schadenluſt
Die ſchwarze Seele ſchwoll.
Und trat zum Grafen, raſch zur That,
Und offen des Verführers Rath,
Als einſt vom Jagen heim ſie kamen,
Streut ihm ins Herz des Argwohns Saamen.

"Wie ſeid ihr glücklich, edler Graf,
Hub er voll Argliſt an.

Euch raubet nicht den goldnen Schlaf
Des Zweifels giftger Zahn,
Denn ihr beſitzt ein edles Weib,
Es gürtet Schaam den keuſchen Leib,
Die fromme Treue zu berücken
Wird nimmer dem Verſucher glücken"

Da rollt der Graf die finſtern Brau'n:
Was redſt du mir Geſell?
Werd ich auf Weibestugend baun,
Beweglich wie die Well?
Leicht locket ſie des Schmeichlers Mund,
Mein Glaube ſteht auf feſterm Grund,
Vom Weib des Grafen von Saverne
Bleibt, hoff ich, der Verſucher ferne.

Der andre ſpricht "So denkt ihr recht.
Nur euren Spott verdient
Der Thor, der, ein gebohrner Knecht,
Ein ſolches ſich erkühnt,

Und

Und zu der Frau, die ihm gebeut
Erhebt der Wünſche Lüſternheit" —
Was? fällt ihm jener ein und bebet,
Redſt du von einem, der da lebet?

Ja doch, was aller Mund erfüllt,
Das bärg ſich meinem Herrn!
Doch, weil ihrs denn mit Fleiſs verhüllt,
So unterdrück ichs gern" —
Du biſt des Todes, Bube, ſprich!
Ruft jener ſtreng und fürchterlich.
Wer hebt das Aug zu Kunigonden?
"Nun ja, ich ſpreche von dem Blonden"

"Er iſt nicht häſslich von Geſtalt,
Fährt er mit Argliſt fort,
Indems den Grafen heiſs und kalt
Durchrieſelt bey dem Wort.
"Iſts möglich Herr? Ihr ſaht es nie,
Wie er nur Augen hat für ſie?
Bey Tafel eurer ſelbſt nicht achtet,
An ihren Stuhl gefeſſelt ſchmachtet?"

"Seht da die Verſe, die er ſchrieb,"
Und ſeine Glut geſteht"
Geſteht! — "Und ſie um Gegenlieb,
Der freche Bube! fleht.
Die gnädge Gräfin, ſanft und weich,
Aus Mitleid wohl verbarg ſies euch,
Mich reuet jetzt, daſs mirs entfahren,
Denn Herr, was habt ihr zu befahren?"

Da ritt in ſeines Zornes Wut
Der Graf ins nahe Holz,
Wo ihm in hoher Oefen Glut
Die Eiſenſtufe ſchmolz.
Hier nährten früh und ſpat den Brand
Die Knechte mit geſchäftger Hand,
Der Funke ſprüht, die Bälge blaſen,
Als gält es, Felſen zu verglaſen.

Des Waſſers und des Feuers Kraft,
Verbündet ſieht man hier,
Das Mühlrad von der Flut gerafft,
Umwälzt ſich für und für.
Die Werke klappern Nacht und Tag,

Im Takte pocht der Hämmer Schlag,
Und bildſam von den mächtgen Streichen
Muſs ſelbſt das Eiſen ſich erweichen.

Und zwoen Knechten winket er,
Bedeutet ſie und ſagt:
Den erſten, den ich ſende her,
Und der euch alſo fragt: ...
"Habt ihr befolgt des Herren Wort?"
Den werft mir in die Hölle dort,
Daſs er zu Aſche gleich vergehe,
Und ihn mein Aug nicht weiter ſehe.

Des freut ſich das entmenſchte Paar
Mit roher Henkersluſt.
Denn fühllos wie das Eiſen war
Das Herz in ihrer Bruſt.
Und friſcher mit der Bälge Hauch
Erhitzen ſie des Ofens Bauch,
Und ſchicken ſich mit Mordverlangen
Das Todesopfer zu empfangen.

Drauf Robert zum Geſellen ſpricht
Mit falſchem Heuchelſchein:
Friſch auf Geſell und ſäume nicht,
Der Herr begehret dein.
Der Herr, der ſpricht zu Fridolin:
Muſt gleich zum Eiſenhammer hin,
Und frage mir die Knechte dorten,
Ob ſie gethan nach meinen Worten?

Und jener ſpricht: es ſoll geſchehn,
Und macht ſich flugs bereit.
Doch ſinnend bleibt er plötzlich ſtehn:
"Ob Sie mir nichts gebeut?"
Und vor die Gräfin ſtellt er ſich:
Hinaus zum Hammer ſchickt man mich,
So ſag, was kann ich dir verrichten?
Denn dir gehören meine Pflichten.

Darauf die Dame von Saverne
Verſetzt mit ſanftem Ton:
Die heilge Meſſe hört ich gern,
Doch liegt mir krank der Sohn.

So gehe denn mein Kind und ſprich
In Andacht ein Gebet für mich,
Und denkſt du reuig deiner Sünden,
So laſs auch mich die Gnade finden.

Und froh der vielwillkommnen Pflicht,
Macht er im Flug ſich auf,
Hat noch des Dorfes Ende nicht
Erreicht in ſchnellem Lauf,
Da tönt ihm von dem Glockenſtrang
Hellſchlagend des Geläutes Klang,
Das alle Sünder, hochbegnadet,
Zum Sakramente feſtlich ladet.

„Dem lieben Gotte weich nicht aus,
Findſt du ihn auf dem Weg! — "
Er ſprichts und tritt ins Gotteshaus,
Kein Laut iſt hier noch reg'.
Denn um die Aerndte war's, und heiſs
Im Felde glüht' der Schnitter Fleiſs,
Kein Chorgehilfe war erſchienen,
Die Meſſe kundig zu bedienen.

Entſchloſſen iſt er alſobald,
Und macht den Sacriſtan.
Das, ſpricht er, iſt kein Aufenthalt,
Was fördert himmelan.
Die Stola und das Cingulum
Hängt er dem Prieſter dienend um,
Bereitet hurtig die Gefäſse,
Geheiliget zum Dienſt der Meſſe.

Und als er dieſs mit Fleiſs gethan,
Tritt er als Miniſtrant
Dem Prieſter zum Altar voran,
Das Meſsbuch in der Hand,
Und kniect rechts und kniect links,
Und iſt gewärtig jedes Winks,
Und als des Sanctus Worte kamen
Da ſchellt er dreimal bei dem Nahmen.

Drauf als der Prieſter fromm ſich neigt
Und, zum Altar gewandt,
Den Gott, den gegenwärtgen, zeigt,
In hocherhabner Hand,
Da kündet es der Sacriſtan

Mit hellem Glöcklein klingend an,
Und alles kniet und ſchlägt die Brüſte,
Sich fromm bekreuzend vor dem Chriſte.

So übt er jedes pünktlich aus,
Mit ſchnell gewandtem Sinn,
Was Brauch iſt in dem Gotteshaus,
Er hat es alles inn,
Und wird nicht müde bis zum Schluſs,
Bis beim Vobiscum Dominus
Der Prieſter zur Gemein' ſich wendet,
Die heilge Handlung ſegnend endet.

Da ſtellt er jedes wiederum
In Ordnung ſäuberlich,
Erſt reinigt er das Heiligthum,
Und dann entfernt er ſich,
Und eilt in des Gewiſſens Ruh
Den Eiſenhütten heiter zu,
Spricht unterwegs, die Zahl zu füllen,
Zwölf Paternoſter noch im Stillen.

Und als er rauchen ſieht den Schlot,
Und ſieht die Knechte ſtehn,
Da ruft er: Was der Graf gebot,
Ihr Knechte, iſts geſchehn?
Und grinzend zerren ſie den Mund,
Und deuten in des Ofens Schlund:
"Der iſt beſorgt und aufgehoben,
Der Graf wird ſeine Diener loben"

Die Antwort bringt er ſeinem Herrn
In ſchnellem Lauf zurück.
Als der ihn kommen ſieht von fern,
Kaum traut er ſeinem Blick.
Unglücklicher! wo kommſt du her?
"Vom Eiſenhammer" — Nimmermehr!
So haſt du dich im Lauf verſpätet?
"Herr, nur ſo lang, bis ich gebetet"

"Denn als von eurem Angeſicht
Ich heute ging, verzeiht,
Da fragt ich erſt, nach meiner Pflicht,
Bei der, die mir gebeut.
Die Meſſe, Herr, befahl ſie mir

Zu hören, gern gehorcht' ich ihr,
Und ſprach der Roſenkränze viere
Für euer Heil und für das ihre.

In tiefes Staunen ſinket hier
Der Graf, entſetzet ſich.
Und welche Antwort wurde dir
Am Eiſenhammer? Sprich!
"Herr, dunkel war der Rede Sinn,
Zum Ofen wies man lachend hin:
Der iſt beſorgt und aufgehoben,
Der Graf wird ſeine Diener loben"

Und Robert? fällt der Graf ihm ein,
Wird glühend und wird blaſs.
Sollt er dir nicht begegnet ſeyn,
Ich ſandt ihn doch die Straſs'!
"Herr, nicht im Wald, nicht in der Flur
Fand ich von Robert eine Spur —"
Nun, ruft der Graf und ſteht vernichtet,
Gott ſelbſt im Himmel hat gerichtet!

Und gütig, wie er nie gepflegt,
Nimmt er des Dieners Hand,
Bringt ihn der Gattin, tiefbewegt,
Die nichts davon verſtand.
Dieſs Kind, kein Engel iſt ſo rein,
Laſsts eurer Huld empfohlen ſeyn,
Wie ſchlimm wir auch berathen waren,
Mit dem iſt Gott und ſeine Schaaren.

SCHILLER.

---

Ver-

# Verzeichniſs der Gedichte.


*A.* Mein Traum - - - - 19
*B.* Der Ehmann - - - - 18
Liebe und Hofnung - - - 203
Halbe Thorheit - - - - 300
*Brun.* (Friedericke, gebohrne Münter) Lied auf dem Rigiberg geſungen 181
Terracina - - - - - 294
*Conz.* Der Adler Jupiters - - - 73
Abendphantaſie - - - - 117
*Cordes.* Macht der Sinne - - - 299
Lebewohl - - - - - 303
*D.* An den Aether - - - - 131
*E.* Die Urne und das Skelet - - 147
Das Regiment - - - - 156
Die Peterskirche - - - -
*F.* Sonett - - - - - - 45
Der verlohrne Maitag - - 80
Die Mode - - - - - 194
Die Jungfrau des Schloſses. Romanze 242
An Daphne - - - - - 288
Freuden der Gegenwart - - 301

*Göthe.* Der neue Pausias und sein Blumenmädchen - - - - - - 1
Der Zauberlehrling. Romanze - 32
Der Schatzgräber - - - 46
Die Braut von Corinth. Romanze 88
Legende - - - - - 144
An Mignon - - - - - 179
Der Gott und die Bajadere. Ind. Legende 188
Erinnerung - - - - - 223
Abschied - - - - - 241
Der neue Amor - - - - 287
*Gries.* Phaëthon - - - - - 160
*W. v. Humboldt.* Die Dioskuren. Aus Pindar 110
*Jägle.* Das Meer - - - - 141
*K.* Elegien - - - - - 204
*Lenz.* Die Liebe auf dem Lande 74
Tantalus. Dramolet - - - 224
*Louise* * * * Guidos Aurora - - 186
Kindheit und Jugend - - - 262
*Matthison.* Feenreigen - - - 38
Trost des Edeln - - - - 158
*Mereau.* (Sophie) Lindor und Mirtha 100
Der Garten zu Wörlitz - - 216
Licht und Schatten - - - 292
*Müller.* (K. L. M.) An Julius - - 259
*Pfeffel.* Die Hunde - - - - 148

*R.* Die Verwandlung - - - 23
Liebe - - - - - - 37
Genie und Talent - - - - 40
Die verlohrne Geliebte - - - 48
Wunſch - - - - - - 79
Schlimm und Schlimmer - - - 99
Pſyche - - - - - - 104
Das Herz - - - - - - 114
Die Leier des Herzens - - - 116
Die Wahl - - - - - 130
Die Menſchen - - - - 136
Die Erinnerung - - - - 140
Thränen der Liebe - - - 257
An Alexander von H*** - - 264
Begeiſterung - - - - - 291
Erziehung - - - - - 291
*S.* Elegie an Emma - - - - 115
*Schiller.* Der Ring des Polykrates. Ballade 24
Der Handſchuh. Erzählung 41
Ritter Toggenburg. Ballade 105
Der Taucher. Ballade - - 119
Reiterlied aus dem Wallenſtein - 137
Die Worte des Glaubens - - 221
Nadoweſſiſche Todtenklage - 237
Der Obeliſk u. ſ. w. - - - 240
Licht und Wärme - - - - 258
Breite und Tiefe - - - - 263

Die Kraniche des Ibycus. Ballade 267
Das Geheimniss - - - - 299
Der Gang nach dem Eisenhammer
Ballade - - - - 306
*Schlegel.* (A. W.) Prometheus - - 49
Gesang und Kuss. Sonett - - 157
Zueignung des T. Romeo und Julie 175
Die entführten Götter - - - 199
Arion. Romanze - - - 278
*Schmidt.* (Siegfried) Sängers Einsamkeit 30
Frühlings Spatziergang - - 155
Götterhülfe - - - - - 256
Täuschung - - - - - 304
*v. Steigentesch.* Sonett - - - 87

Jena,
gedruckt bey Joh. Christ. Gottfr. Göpferdt.

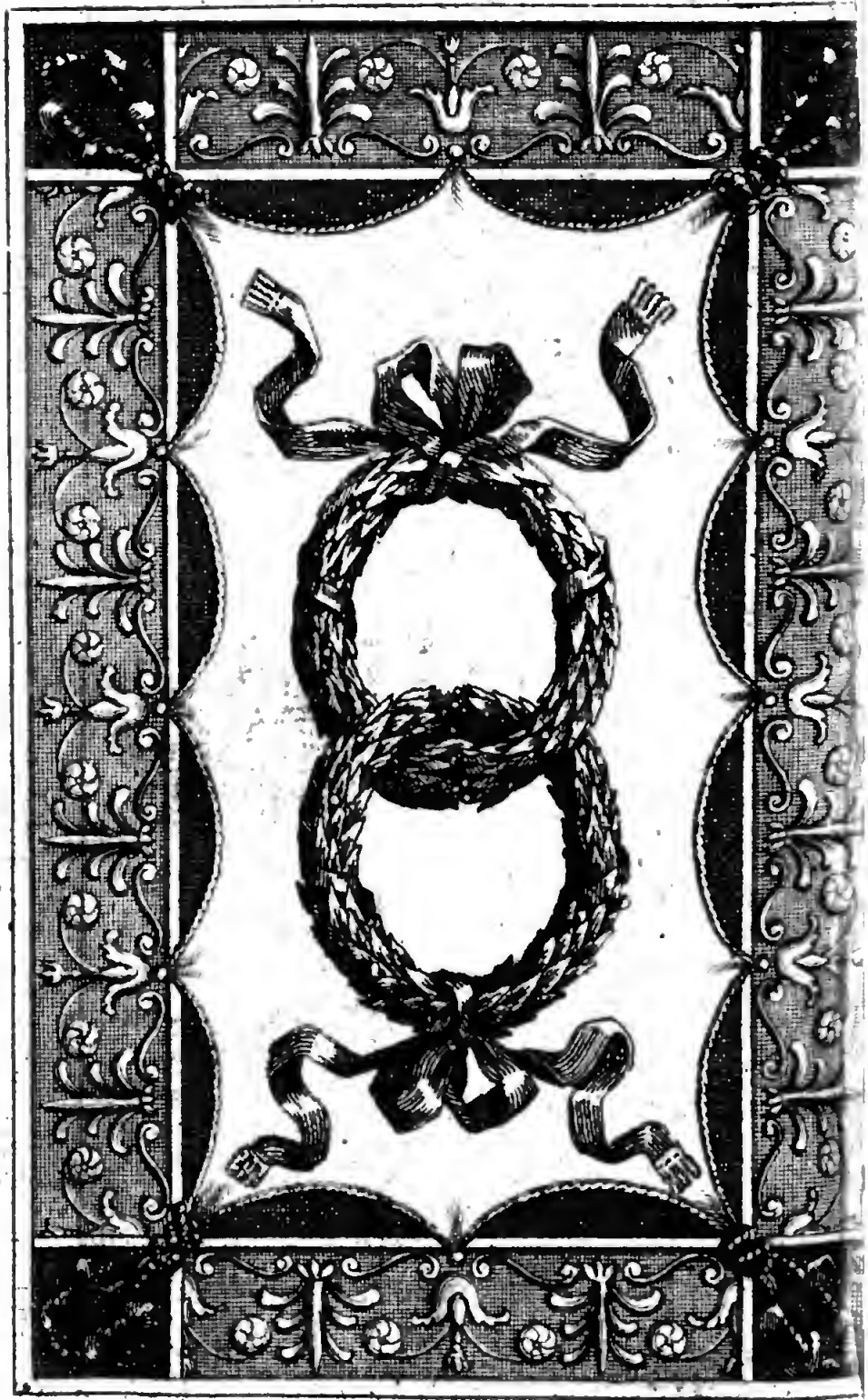

2/2 10 95 2.
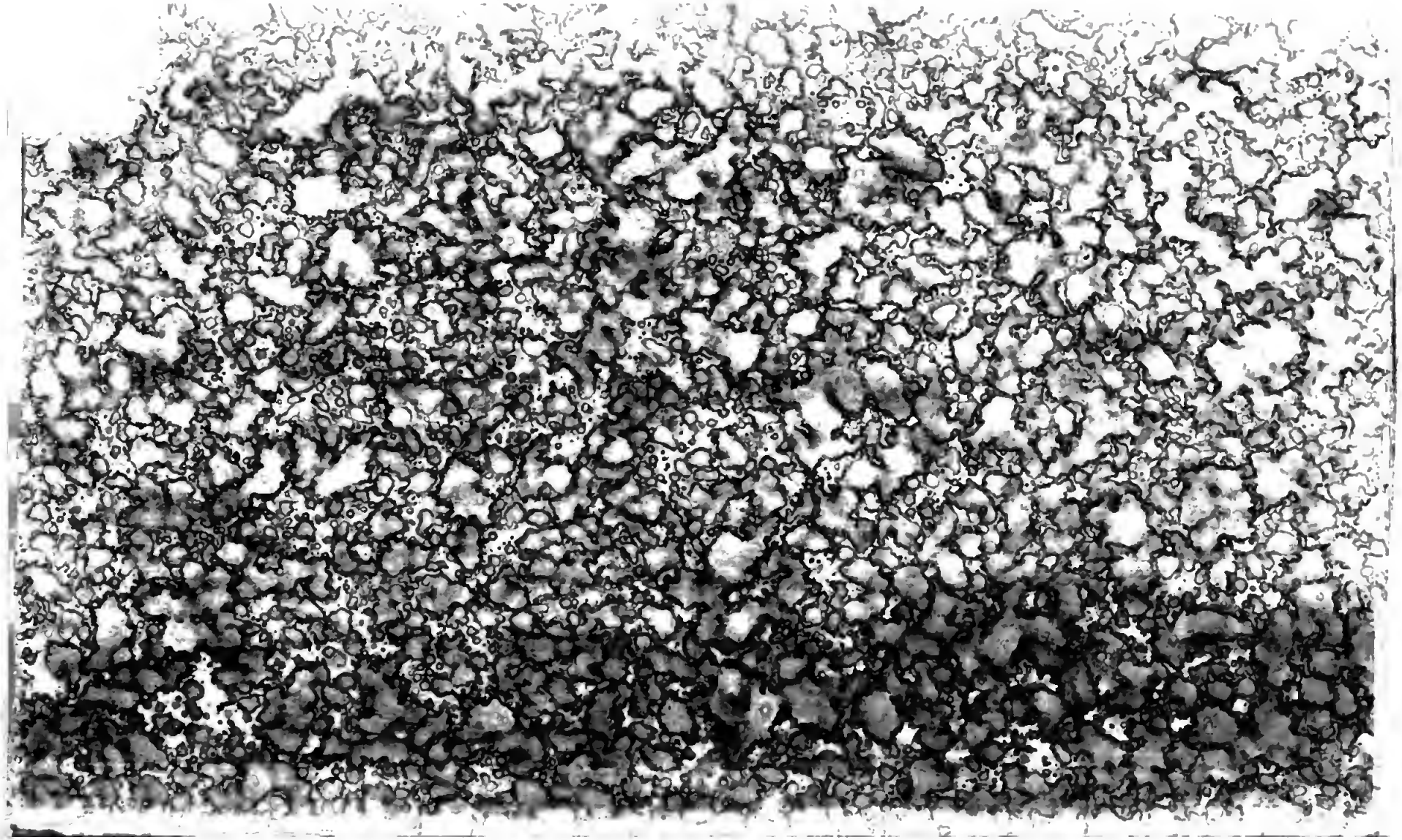
Aug. Bernoulli.